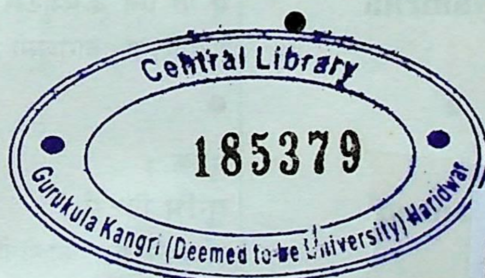
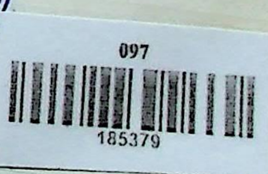
कठोपनिषद् दिव्यामृत

शिवानन्द

कठोपनिषद्-दिव्यामृत

शिवानन्द





सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी



कठोपनिषद्-दिव्यामृत



लेखक
शिवानन्द
विजयनगर,
मेरठ (उ० प्र०) २५० ००१



संस्करण : प्रथम
प्रतियाँ : २,०००
अक्तूबर, १९९८



प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१



अक्षर-संयोजन :
ए पी एन कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
गोदौलिया, वाराणसी ✆ ३२८५६५



मुद्रक :
सुरभि प्रिंटर्स
इन्डियन प्रेस कालोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२



मूल्य : पैंतीस रुपये

Kathopanishad Divyamrita

Shivanand

Price : Rs. 35.00

प्रकाशकीय

सर्व सेवा संघ प्रकाशन के लिए यह प्रसन्नता का विषय है कि ऋषितुल्य श्री शिवानन्दजी के द्वारा उपनिषदों का ऐसा लोककल्याण-कारक दिव्यामृत सर्वसुलभ हो रहा है जो भौतिकता से संतप्त एवं संत्रस्त मानवमात्र की मनोभूमि को अभिसिंचित एवं सुतृप्त करने में नितान्त सक्षम है।

'कठोपनिषद् दिव्यामृत' दिव्य ज्ञानगंगा की एक महनीय धारा है। भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा में कठोपनिषद् की ऐसी सरल, स्पष्ट और सुबोध भाषा एवं शैली में कोई अन्य विशद व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

हमें विश्वास है कि जिज्ञासुजन इस कालजयी एवं अमृतमयी रचना का स्वागत करेंगे तथा इसके प्रचार एवं प्रसार में यथासंभव अधिकाधिक योगदान देकर पुण्य के भागी होंगे।

—संयोजक
सर्व सेवा संघ प्रकाशन

नोट—अविलम्ब ही मुण्डक उपनिषद् का उत्कृष्ट दिव्यामृत भी प्रकाशित हो रहा है। तदनन्तर शीघ्रही श्वेताश्वतर उपनिषद् का सरस दिव्यामृत प्रकाशित होगा।

विषय-सूची

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट–
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

प्रवेश

भारत की एक प्रमुख विशेषता उसकी अटूट चिन्तन-परम्परा है। भारत के मनीषियों ने बहिर्मुखी जीवन के प्रलोभनों एवं आकर्षणों से मन को हटाकर, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर तथा तत्त्व-जिज्ञासा से प्रेरित होकर, जीवन के चरम लक्ष्य पर गहन चिन्तन किया। जीवन, जगत् और आत्मा के रहस्यों की खोज में उन्होंने अनेक दर्शन-पद्धतियों का सृजन किया। 'दर्शन' का अर्थ 'देखना' है, न कि मात्र अनुमान पर आधारित विचार करना। इसी कारण भारत में दर्शन धर्म एवं जनजीवन का अंग बन गया, जब कि अन्य देशों में वह वाग्विलास के रूप में कुछ चिन्तकों तक ही सीमित रहा। वास्तव में, सत्य का अन्वेषण करना धर्म का प्रमुख लक्षण है।

भारत की समस्त वैदिक एवं अवैदिक दर्शन-पद्धतियों के मूलसूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं और सबका लक्ष्य परम तत्त्व की खोज तथा जीवन में दुःख का निराकरण एवं स्थायी सुख-शान्ति की स्थापना करना रहा है। बाह्य रूप में विभिन्न होते हुए भी उनमें लक्ष्य की एकता स्पष्ट है। सभी अन्तःकरण की पवित्रता को तत्त्वान्वेषण के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

संसार के प्राचीनतम ज्ञान-ग्रन्थ वेद हैं तथा उपनिषद् उनके वैचारिक शिखर हैं।[१] वैदिक ऋषियों ने धर्म (सत्य) का साक्षात्कार (अनुभव) किया, '**साक्षात्कृत-**

---

१. उपनिषदों के महत्त्व एवं विषयवस्तु की पर्याप्त चर्चा हम 'ईशावास्य-दिव्यामृत' के 'प्रवेश' में कर चुके हैं तथा यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना अनावश्यक है। सुधी पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे पृष्ठभूमि के रूप में उसे ध्यानपूर्वक अवश्य पढ लें। (हमारी योजना के अन्तर्गत प्रमुख उपनिषदों की सरल टीकाओं के अतिरिक्त 'अष्टावक्रगीतारसामृत' का प्रणयन तथा 'सूक्ष्म जगत् में प्रवेश : मन के उस ओर' इत्यादि की रचना करना भी है।) स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द की रचनाएँ उपनिषदों को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। डॉ० राधाकृष्णन की रचनाएँ भी भारतीय दर्शन को समझने में अत्यन्त सहायक हैं।

धर्माणो ऋषयो बभूवुः' ऋषियों ने मंत्रों के अन्तर्निहित सत्य का दर्शन (स्पष्ट अनुभव) किया। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।** वास्तव में उपनिषद् ऋषियों के अनुभव-जन्य उद्गारों के भण्डार हैं, जिन्हें मंत्रों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और वे मात्र विचार अथवा मत नहीं हैं।

उपनिषद् वेदों के ज्ञानभाग हैं तथा उनमें कर्मकाण्ड की उपेक्षा की गयी है। यद्यपि वेदों में अन्तिम सत्य को एक ही घोषित किया गया, उसको अनेक नाम दे दिये गये। उपनिषदों ने उसे 'ब्रह्म' (बड़ा) नाम दे दिया। वेदों ने जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं दिए, उपनिषदों ने उनके भी उत्तर दे दिए। उपनिषद् परमात्मा, जीवात्मा, सृष्टि आदि विषयों का निरूपण करते हैं, किन्तु एक अद्वितीय ब्रह्म को अन्तिम सत्ता के रूप में प्रतिपादित करते हैं। यह एक आश्चर्य है कि सभी उपनिषद् भिन्न-भिन्न प्रकार से एक ही ब्रह्म का निर्वचन करते हैं तथा उपनिषदों में एक स्पष्ट तारतम्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है। प्रज्ञान ब्रह्म है,[१] मैं ब्रह्म हूँ,[२] वही तू है,[३] यह आत्मा ब्रह्म है,[४] ये चार महावाक्य हैं। सब कुछ ब्रह्म ही है।[५] ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है।[६]

उपनिषदों के रचना-काल तथा उनकी संख्या का निर्णय करना कठिन है। प्रमुख उपनिषद् ग्यारह कहे गए हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य। शङ्कराचार्य ने इन सब पर भाष्य लिखे हैं, यद्यपि कुछ विद्वानों ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य को शङ्कराचार्य-प्रणीत नहीं माना है। कौषीतकि तथा नृसिंहतापिनी उपनिषदों को सम्मिलित करने पर प्रमुख उपनिषदों की संख्या तेरह हो जाती है। अगणित वेद-शाखाएँ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् विलुप्त हो चुके हैं। हमें ऋग्वेद के दस, कृष्ण यजुर्वेद के बत्तीस, सामवेद के सोलह, अथर्ववेद के इकतीस उपनिषद् उपलब्ध हैं। वेदों पर आधारित ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की चर्चा है तथा उनसे सम्बद्ध आरण्यक हैं, जो अरण्यों (वनों) में उपदिष्ट हुए। प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं आरण्यकों के सूक्ष्म चिन्तनपूर्ण अंश उपनिषद् हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों और

---

१. **प्रज्ञानं ब्रह्म** (ऐतरेय उप०, ३.१.३.)
२. **अहं ब्रह्मास्मि** (बृहद्० उप० १.४.१०)
३. **तत्त्वमसि** (छान्दोग्य उप०, ६.१५)
४. **अयमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य उप०, २)
५. **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छान्दोग्य उप०, ३.१४.१)
६. **सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीय उप०, २.१)

आरण्यकों को प्रधानत: कर्मकाण्ड कहा जाता है तथा उपनिषद् ज्ञानकाण्ड हैं। उपनिषद् वैदिक-वाङ्मय का नवनीत हैं।

उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म एक और अद्वितीय है। वह द्वैतरहित है। वह नित्य और शाश्वत है, अचल है। ब्रह्म ही विश्व की एकमात्र सत्ता है। उपनिषदों में 'आत्मा' परमात्मा अथवा ब्रह्म का पर्यायवाची है। ब्रह्म निर्विशेष अथवा निर्गुण है। उसे निषेध द्वारा निर्गुण रूप में वर्णित किया जाता है—**नेति नेति** (यह भी नहीं, यह भी नहीं)। ब्रह्म वर्णन से परे है। **'स एष नेति नेति आत्मा'** (बृहद्० उप०, ४.४.२२)।

वेद पर आधारित छह दर्शनशास्त्र सोपानात्मक हैं। मीमांसा में ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं है, यद्यपि वह वेद पर ही आधारित है। सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक स्वतंत्र हैं। वेदान्त छह शास्त्रों के सोपान में सर्वोपरि है। उपनिषद् ही वेदान्त अर्थात् वेद का प्रतिपाद्य अन्तिम ज्ञान-भाग हैं। उपनिषदों में वेदान्त-दर्शन सन्निहित है, अतएव दोनों पर्यायवाची हो गए हैं। वेदान्त का अर्थ है—वेदों का अन्त, ध्येय, अर्थात् प्रतिपाद्य अथवा सारतत्त्व।

मनुष्य में अपने भीतर गहरे प्रवेश एवं सूक्ष्म अनुभवों द्वारा विश्व के समस्त रहस्यों का उद्घाटन करने की सामर्थ्य है।[१] परब्रह्म परमात्मा की प्रच्छन्न शक्ति माया है। वेदान्त के अनुसार मायारहित ब्रह्म निर्गुण अथवा विशुद्ध ब्रह्म है तथा मायासहित (अथवा मायोपाधिविशिष्ट) ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म, अपरब्रह्म अथवा ईश्वर है, जो सृष्टि की रचना करता है, कर्मफल देता है और भक्तों का उपास्य है। वह अन्तर्यामी है। वह विश्व का निमित्त एवं उपादानकारण है। वह सविशेष अथवा सगुण है। वास्तव में दोनों परब्रह्म और अपरब्रह्म तत्त्वत: एक ही हैं। प्राणियों के देह में रहनेवाला जीवात्मा भी वास्तव में माया से मुक्त होने पर

---

१. "But if it seems strange to you that the old Indian philosophers should have known more about the soul than Greek or medieval or modern philosophers, let us remember that however much the telescopes for observing the stars of heaven have been improved, the observatories of the soul have remained much the same." Max Muller : Three lectures on the Vedanta Philosophy, London.
भारतीय दार्शनिक आत्मा के सम्बन्ध में यूनानी, मध्यकालीन अथवा आधुनिक दार्शनिकों से अधिक जानते थे। दूरबीनों में कितना भी सुधार हुआ हो, आत्मा की वेधशाला तो वही है।

आत्मा ही है। ब्रह्म सत्य है अर्थात् नित्य, शाश्वत तत्त्व है और जगत् मिथ्या अर्थात् स्वप्नवत्, असत् एवं नश्वर है तथा जीवात्मा अपने शुद्ध रूप में आत्मा ही है। **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।** संसार की व्यावहारिक सत्ता है, किन्तु तत्त्व-विचार से एक ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता अर्थात् पारमार्थिक सत्ता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य अर्थात् शाश्वत तत्त्व है।

उपनिषदों को विशेष महत्त्व देकर प्रकाश में लाने का कार्य शङ्कराचार्य (६५५ ई० से ६८८ ई० अथवा ७८८ ई० से ८२० ई०) ने किया। शङ्कराचार्य ने प्रमुख ग्यारह उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र (जिसमें उपनिषदों की सारगर्भित चर्चा की गई है।) तथा भगवद्गीता पर अद्भुत भाष्य लिखे और सारे भारत में अद्वैत-दर्शन की प्रस्थापना की। शङ्कराचार्य ने बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थ में युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा पराजित करके वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित किया। स्वामी विवेकानन्द (१२ जनवरी १८६३—४ जुलाई १९०२) ने भी वही कार्य विदेशों में जाकर किया। भारतीय संस्कृति को विश्व-संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित करने का अद्भुत कार्य शङ्कराचार्य, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने तर्क के आधार पर किया। कदाचित् बुद्धि की प्रखरता एवं मौलिकता लगभग २० वर्ष की आयु से ४० वर्ष तक सविशेष रहती है, यद्यपि पर्याप्त परिपक्वता लगभग ४० वर्ष से ५० वर्ष तक आ लेती है तथा तदनन्तर चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की क्षमता बढती रहती है। तर्क तथा अनुभव पर आधारित ज्ञान के शाश्वत प्रकाश से परिपूर्ण होने के कारण कालजयी उपनिषदों की उपेक्षा होना असंभव है, यद्यपि उनके सन्देश को आत्मसात् करने के लिए आध्यात्मिक साधना करना नितान्त आवश्यक है।

तात्विक दृष्टि से यह सब व्यक्त जगत् ब्रह्म ही है।[1] संसार इन्द्रियों के स्तर पर जैसा दीखता है, वह सब कोरा भ्रम नहीं है, माया (अथवा प्रकृति) है तथा चेतना अथवा ज्ञान के स्तर पर सर्वत्र ब्रह्म ही है। इन्द्रियों के स्तर पर यह जगत् यथार्थ है, आत्मा के स्तर पर यह मात्र माया है, असत् है।

शाश्वत केवल ब्रह्म है। हम इन्द्रिय-स्तर के ज्ञान से ही चेतना-स्तर के ज्ञान तक पहुंचते हैं। ज्ञान सोपानात्मक है। ब्रह्म सत् अर्थात् सत्य का भी सत्य है।[2] पदार्थ और चेतना में मूलतः भेद नहीं है। वे परस्पर परिवर्तनीय हैं, यद्यपि

---

१. **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।** (मुण्डक उप०, २.२.११)
   इदं सर्वं यदयम् आत्मा। (बृहद् उप०, २.४.६)।

२. **सत्यस्य सत्यम्** (बृहद्० उप०, २.१.२०, २.३.६)।

अनुभव के स्तरों पर वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। यह जगत् एक ही चेतन-तत्त्व से ओतप्रोत है।[१] वही सर्वत्र है, वही इसका आधार है।

उपनिषदों की प्रमुख विशेषता सत्य की साहसपूर्ण खोज है तथा उसमें निर्भीकता, बौद्धिकता एवं तार्किकता का पुट है। संसार के किसी भी अन्य ज्ञानग्रन्थ में ऐसी मीमांसा तथा गंभीर अन्वेषण का तत्त्व नहीं है। संवाद में परस्पर आदर-सम्मान दिया जाता है तथा कहीं विचार को थोपा नहीं जाता। **वादे वादे जायते तत्त्वबोधः** अर्थात् बौद्धिक स्तर पर संवाद से तथ्य का निर्णय होता है। व्यक्तिगत अनुभव एवं रहस्यमय आन्तरिक अनुभूति पर बल दिया जाता है, क्योंकि स्वानुभव का प्रमाण सर्वोपरि होता है। धर्म के तत्त्वों पर भी प्रश्नचिह्न लगाकर, जिज्ञासा एवं सन्देह के समाधान का ऐसा प्रयत्न कहीं अन्यत्र देखा नहीं जाता। उपनिषदों के रोचक संवादों में सार्वभौमिक सत्यों का निरूपण किया गया है तथा वे किसी भी प्रचलित धर्म के अनुपालन में बाधक नहीं हो सकते। सत्य के अन्वेषकों एवं अनुसन्धाताओं के लिए उपनिषद् अमृतमय सिद्ध होते हैं। उपनिषद् शक्ति, अभय, उन्मुक्तता और आनन्द का सन्देश देते हैं। कठोपनिषद् का एक मंत्र गर्जन करता है—उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों से बोध प्राप्त करो। **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'** (कठ० उप०, १.३.१४)। उपनिषद् ऐसे विश्वधर्म के आधार हैं, जहाँ प्रेम और सद्भाव घृणा और शोषण का स्थान लेकर शान्ति की स्थापना कर देंगे तथा जहाँ आध्यात्मिक प्रकाश में जीना संभव हो सकेगा।

संसार के किसी धर्मग्रन्थ अथवा दर्शन-ग्रन्थ में परमात्मा का ऐसा तात्त्विक वर्णन उपलब्ध नहीं है, जैसा उपनिषदों में है। संसार में केवल उपनिषद् ही आत्मा परमात्मा, जगत् और जीवन के रहस्यों की खोज में पूर्णतः संलग्न हैं। उनमें कुछ भी विवादास्पद नहीं है तथा मात्र ब्रह्मविद्या की ही चर्चा है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। वह सत् है, नित्य एवं शाश्वत है तथा चैतन्यस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। वह अमृतमय है, अनन्त और अनिर्वचनीय है। यद्यपि वह बुद्धिग्राह्य नहीं है, तथापि विशुद्ध अन्तरात्मा में उसकी दिव्यानुभूति अवश्य हो सकती है। उसकी प्राप्ति के लिए कहीं जाना नहीं है तथा वह अपने भीतर ही सुलभ है। वास्तव में हमारा जीवात्मा परमात्मा का अंश है तथा अपने शुद्ध रूप में वह स्वयं परमात्मा ही है। गुरु कहता है—**'तत् त्वम् असि'** और साधक

---

१. **तदोतं च प्रोतं चेति** (बृहद्० उप०, ३.८.४)।

अनुभव करता है—'**अहं ब्रह्म अस्मि।**' जीवन में इससे बढकर अन्य कोई उपलब्धि नहीं हो सकती।[१]

उपनिषदों की चर्चा करते हुए भगवद्गीता का उल्लेख करना अत्यन्त प्रासंगिक है। भगवद्गीता को भी उपनिषद की संज्ञा दी गई है। भगवद्गीता का कठोपनिषद् के साथ घनिष्ठ संबंध है। उसके अनेक स्थल कठोपनिषद् पर आधारित हैं। यहाँ उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा करना अनभीष्ट है। संसार में जब मानव सब प्रकार की संकीर्णता, असहिष्णुता और कट्टरता को त्यागकर आध्यात्मिकता की ओर बढेगा और मानवमात्र में ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों, वृक्षों और समस्त वनस्पतियों में भी चैतन्य-तत्त्व का दर्शन करेगा, तब उपनिषदों का अध्यात्म एक कल्याणकारी नई व्यवस्था का आधार बन जाएगा तथा मानव प्रेमपूर्ण सह-अस्तित्व का पाठ सीख सकेगा। भौतिक स्तर पर विषमता कभी समाप्त नहीं हो सकती तथा आध्यात्मिक स्तर पर ही सच्ची समता और शान्ति की स्थापना हो सकती है। उपनिषद् वैदिक मनीषा का एक आलोक-स्तम्भ है जो सारे संसार को प्रकाश देता है।

जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में निरन्तर देखता है और सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता। जब परमात्मा को जानने पर सब प्राणी परमात्मस्वरूप ही दीखते हैं, तब एकत्व को देखनेवाले पुरुष के लिए मोह और शोक नहीं रहते तथा वह आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।[२] भौतिक स्तर पर ही रहने से व्यक्ति एवं समाज में कभी साम्य और शान्ति

---

१. **इह चेदवेदीथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केन उप०, २.५)
—जिसने इस मानव-देह में परब्रह्म को जान लिया, वह कुशल है। यदि इस देह में रहते हुए परब्रह्म को नहीं जाना, वह घोर विनाश है। बुद्धिमान् लोग प्राणिमात्र में परब्रह्म को देखकर इस लोक से जाते हैं, वे अमर हो जाते हैं।
य वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ।
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥
(बृह० उप०, ३.८.१०)
—याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि, जो इस संसार से ब्रह्म को जाने बिना ही चला जाता है, वह कृपण (अभागा) है। जो इसे जानकर जाता है, वह ब्राह्मण है।

२. **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

की स्थापना नहीं हो सकती तथा आध्यात्मिकता को प्रमुख एवं भौतिकता को गौण मानकर और उनका समुचित समन्वय होने पर ही व्यक्ति एवं समाज के जीवन में शान्ति और सुख को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

उपासना की पद्धतियों की भिन्नता को स्वीकार करने पर तथा सबका गन्तव्य एक ही परमात्मा को मानने पर परस्पर विवाद और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। सब धर्मों का साध्य एवं प्राप्य वही एक है।[१] मार्ग अनेक हैं, लक्ष्य एक ही है।

भारतीय धर्मों के सन्दर्भ में यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि चार्वाक-दर्शन जडतत्त्व के अतिरिक्त चेतनतत्त्व को स्वीकार नहीं करता, किन्तु, जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन चेतनतत्त्व (आत्मतत्त्व) के अस्तित्व को अपने-अपने ढंग से स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे अवैदिक हैं, और **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** के आधार पर उन्हें नास्तिक कहा जाता है। वे वेदों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म अथवा ईश्वर की मान्यता को स्वीकार नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मूल प्रवक्ताओं (भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध) ने स्वयं ईश्वर के अस्तित्व को अमान्य नहीं किया तथा यज्ञों की पशु-हिंसा आदि दोषों का निषेध करने में उन्हें ईश्वर-तत्त्व की उपेक्षा करनी पड़ी। उन्होंने **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** के कुप्रचार का उचित विरोध किया। उनके परवर्ती आचार्यों ने अपनी बुद्धि के अनुसार दर्शन-पद्धतियों और शास्त्रों की रचना कर दी। कालान्तर में भेद बढते गये और सम्प्रदायों का उदय हो गया। हमें प्रवर्तकों की जन-कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखकर, उनके द्वारा चेतनतत्त्व की स्वीकृति के आधार पर परस्पर समन्वय एवं मौलिक एकता पर बल देना चाहिए। विघटनकारी शास्त्रार्थ के युग बीत चुके हैं। बुद्ध की अहिंसा, करुणा और मैत्री सदैव प्रासंगिक रहेंगी।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों का स्पष्ट मत है कि भारत के समस्त धर्मों के मूल उपनिषदों से जुड़े हुए हैं। यह सर्वविदित है कि शापनहावर, डायसन,

---

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥ —ईशा० उप०

१. **रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां**
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव। (शिवमहिम्न स्तोत्र)
—रुचियों के भेद के कारण सीधे, टेढे आदि अनेक पथों पर चलते हुए मनुष्यों का एक तू ही लक्ष्य है, जैसे नदियों का लक्ष्य समुद्र होता है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥ —गीता, ४.११
—जो परमात्मा को जैसे भी भजता है, परमात्मा उसे वैसे ही स्वीकार लेता है।

मेक्समूलर[१], हक्सले, विल डुरान्ट[२] आदि अगणित प्रख्यात विद्वानों ने उपनिषदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। भारत के भविष्य की उज्ज्वलता तथा विश्व-कल्याण की आशा उपनिषदों पर आधारित है। उनमें सार्वभौमिकता है तथा कहीं संकीर्णता एवं कट्टरता का पुट नहीं है। इस तथ्य को जान लेने और उपनिषदों के प्रकाश का प्रसार कर लेने में ही कृतार्थता है।

कठोपनिषद् में अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से मृत्यु के भय को त्यागकर अर्थात् समस्त भयों को त्यागकर, अजेय एवं अभय होने का आह्वान किया गया है। **उत्तिष्ठत जाग्रत**—उठो, जागो।

कठोपनिषद् का नियमित पाठ निश्चय ही कल्याण के मार्ग को प्रशस्त कर देता है।



---

1. "It is surely astounding that such a system as the Vedanta should have been slowly elaborated by the indefatigable and intrepid thinkers of India thousands of years ago, a system that even now makes us feel giddy, as in mounting the last steps of the swaying spire of a Gothic Cathedral. None of our philosophers, not excepting Heraclitus, Plato, Kant or Hegel has ventured to erect such a spire, never frightened by storms or lightnings. Stone follows on stone after regular succession after once the first step has been made, after once it has been clearly seen that in the beginning there can have been but one, as there will be but one in the end, whether we call it Atman or Brahman." (Six Systems of Indian Philosophy—Max Muller)
   यह आश्चर्यजनक है कि यूरोप के महान् चिन्तकों ने ऐसा दर्शन नहीं दिया, जैसा भारत ने। भारत के वेदान्त का एक ही आधार है, एक ही शिखर है—आत्मा अथवा ब्रह्मन्।
2. "It is true that even across the Himalayan barrier, India has sent to us such questionable gifts as grammar and logic, philosophy and fables,

hypnotism and chess, and above all, our numerals and our decimal system. But these are not the essence of her spirit; they are trifles compared to what we may learn from her in the future. As invention, industry and trade bind the continents together, or as they fling us into conflict with Asia, we shall study its civlizations more closely and shall absorb, even in enmity, some of its ways and thoughts. Perhaps, in return for conquest, arrogance and spoliaton, India will teach us the tolerance and gentleness of the mature mnd, the quiet content of the unacquisitive soul, the calm of the understanding spirit, and a unifying, pacifying love for all living things."—Will Durant : The Story of Civilisation

भारत ने विश्व को एक अद्भुत विचार-कोश एवं जीवन-दर्शन दिया।

कठोपनिषद् के कुछ मंत्र, व्याख्यासहित, विशेष पठनीय एवं मननीय हैं—
१.१.२७, १.२.२, १.२.९, १.२.१२, १.२.१३, १.२.२०, १.२.२३, १.२.२४; १.३.३-४, १.३.१२, १.३.१४; २.१.१, २.१.११, २.१.१३; २.१.१४, २.१.१५, २.२.१, २.२.१२, २.२.१३, २.२.१५; २.३.१०-११, २.३.१३, २.३.१४-१५, २.३.१६, २.३.१७।

निवेदन

प्रत्येक युग की अपनी कुछ विशेषताएँ और अपनी कुछ पहचान होती हैं। स्वाधीनता प्राप्त होने के उपरान्त लगभग पाँच दशकों के कालखण्ड में भारत की अनेक क्षेत्रों में प्रगति हुई तथा सम्पूर्ण समाज में एक सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना की लहर का आविर्भाव हुआ और विश्व में भारत को एक सम्मानपूर्ण स्थान भी प्राप्त हुआ। किन्तु देश दिशाहीन होकर अपनी सांस्कृतिक मूलधारा से भटक गया तथा विघटन एवं अराजकता के कगार पर पहुँच गया। राजनीतिक क्षेत्र में विचारभ्रष्टता, मूल्यहीनता, सिद्धान्तहीनता, कुटिलता और चारित्रिक संकट का वातावरण व्याप्त हो गया। मूल्यों और सिद्धान्तों का स्थान अवसरवादिता और षड्यंत्रों ने ले लिया। '**सत्यमेव जयते**' का उद्घोष अर्थहीन हो गया। राजनेताओं द्वारा पोषित, संरक्षित एवं समाश्रित अपराधी तत्त्वों ने हिंसा और अपहरण की घटनाओं को सामान्य बना दिया तथा जनजीवन अस्तव्यस्त हो गया और सारी व्यवस्था लड़खड़ा गई। इस कालखण्ड में मानो उलटी गिनती प्रारंभ होने लगी।

सामाजिक न्याय तथा सामाजिक समरसता के नए-नए लुभावने मंत्र देने-वाले चतुर नेताओं ने सत्ता को पकड़े रहने के ऐसे विभाजनकारी समीकरण बनाए और ऐसी छलपूर्ण व्यूहरचना की कि जिस समाज को स्वाधीनता-संग्राम के आत्मबलिदानी नेताओं ने एकता और अखण्डता के सूत्र में ग्रथित किया था, उसमें धर्म, सम्प्रदाय, जाति, भाषा और क्षेत्र के आधार पर विषमता और विघटन तीव्र हो गए। राष्ट्रीय भावना विलुप्त होने लगी और परस्पर घृणा एवं विद्वेष ने सामाजिक जीवन को विषाक्त कर दिया। सामाजिक न्याय की अवर्ण-सवर्ण आदि की विभेदकारी परिकल्पना अमानवीय है तथा भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। एक ओर कुछ व्यक्तियों के पास धन-सम्पत्ति और विलासिता की सामग्री के अकल्पनीय अम्बार लग गए तथा दूसरी ओर गरीबी की रेखा से नीचे के चालीस प्रतिशत से अधिक दीन-हीन जन की दुर्दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। नगरों में कूड़े के गन्दे ढेरों पर जहाँ एक ओर गौ, श्वान, शूकर आदि भूखे पशु भोजन की खोज करते हैं, वहाँ उनके पास ही अनेक बालक-

बालिकाएँ तथा वृद्ध-वृद्धाएँ भी गन्दे और फटे चीथड़ों से किसी प्रकार तन को ढाँपे हुए, कागज, पन्नी आदि बटोरने के लिए मानो अभिशप्त हैं। अगणित बेरोजगार युवक अवसाद और आत्मग्लानि के कारण मृत्यु-आलिंगन के लिए विवश हो जाते हैं और अगणित बेसहारा युवतियों की, अपना तन और ईमान बेचने एवं अकल्पनीय संत्रास को मूकवत् भोगने की मानो नियति ही है। संवेदनशीलता और मानवीयता शब्दकोशों के ऐसे शब्द हैं, जिनका भरपूर दुरुपयोग होता है तथा जिनका अर्थ लुप्त हो गया है। गरीबों के नए मसीहा तथा सामाजिक न्याय के भाषणपटु प्रवक्ता यथार्थ की भूमि से बहुत दूर हैं। हम इस सन्दर्भ में अदूरदर्शी दूरदर्शन के कामवासना एवं हिंसा के उत्तेजक कार्यक्रमों के दुष्प्रभाव का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते। मीठा विषपान सामान्य जनजीवन को दुर्गति की ओर ले जा रहा है तथा कामुकता एवं हिंसा की घटनाओं में वृद्धि हो रही है। यह है हमारे नितान्त भौतिकवादी एवं भोगवादी युग का यथार्थ।

इस अन्धकार और भटकाव के युग में स्वाध्याय, चिन्तन और विचार का संकट सर्वाधिक शोचनीय है। गंभीर साहित्य के लिए रुचि और अवकाश न होना व्यक्ति एवं समाज के लिए गहन चिन्ता का विषय है। उदात्त साहित्य के सृजन तथा पठन-पाठन में ह्रास होता जा रहा है। वास्तव में, किसी समाज में प्रगति की पहचान उसकी नारियों, बच्चों और मूक पशु-पक्षियों के प्रति व्यवहार से, दीन जन के अभ्युदय के लिए शिक्षा आदि की व्यवस्था होने से तथा उसके साहित्य के स्तर से होती है। यह भी एक तथ्य है कि राजनेताओं का दायित्व समग्र समाज के उत्थान के प्रति होता है, न कि कुछ विशेष वर्गों के प्रति ही। उनके व्यक्तिगत जीवन में सादगी, सच्चाई और ईमानदारी होने पर ही वे प्रभावी हो सकते हैं। जब बड़े नेता रोगों की चिकित्सा के लिए बार-बार विदेश जाते हों तथा सामान्य जन को चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध न होती हो, नेताओं के घरों में विलासिता हो तथा सामान्य जन मात्र जीवन-रक्षा के लिए भी संघर्ष करते हों, नेताओं की रक्षा के लिए विशेष सुरक्षा-व्यवस्था हो तथा सामान्यजन को अपराधी दिन-रात उत्पीडित करते हों, तो क्या वह सच्चा लोकतंत्र हो सकता है? एक ओर जहाँ जनसंख्या को घटाने के उपदेश दिए जाएं तथा दूसरी ओर सम्प्रदाय एवं जाति की संख्या के अनुपात के अनुसार शासन में भागीदारी और नौकरियों में वरीयता दी जाती हो, वहाँ राष्ट्रीयता का क्या महत्त्व है? इस युग में नेताओं का ऐसा आतंक है तथा सामान्यजन इतने भीरु हो गए हैं कि सत्य को कहना ही नहीं, सुनना भी दुश्वार हो गया है। 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' मात्र सारहीन शब्द हैं। राजनेता कानूनों की तोड़-

मरोड़ सत्ता को पकड़े रहने की दृष्टि से कर देते हैं तथा साधारण नागरिक बेबस हो गया है। यह लोकतंत्र का दुरुपयोग है। जब भीड़ में सब अपनी-अपनी स्वार्थपूर्ति और सुरक्षा का ही यत्न करते हों तो दिशा कौन देगा ?

धर्म रक्षा करता है तथा जनसमाज को परस्पर जोड़ता है। इस युग में धर्म के क्षेत्र में धर्मगुरुओं और प्रवचनों की मानो बाढ ही आ गयी है। बाढ में स्वच्छ जल नहीं आता। विवेकी जन गंगा के प्रदूषित जल का आचमन भी नहीं करते। इस अन्धकार युग में स्वयंभू धर्मगुरुओं की पहचान उनके तप, सात्त्विकता और अन्त:प्रबोध एवं दिव्यानुभूति से न होकर उनके वाग्जाल, देश-विदेश में फैले हुए विशाल आश्रमों और शिष्यों एवं अनुयायियों की संख्या से हो रही है। भारत में, वर्तमान युग में, छद्म अवतारों, कल्कि भगवानों, जगद्गुरुओं, चमत्कारी योगियों एवं तथाकथित सिद्धपुरुषों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि उनकी गणना करना भी संभव नहीं है। उनमें तप, तेज, स्वाध्याय, साधना और अन्त:प्रबोध का नितान्त अभाव है तथा उन्होंने व्यवसायियों की भाँति कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि के प्रपञ्च और प्रचार का सहारा ले लिया है। बड़े-बड़े नेता और उद्योगपति उन्हें महानता का प्रमाण-पत्र दे देते हैं। उनमें से अनेक अपराधों में लिप्त हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त वाक्पटु भविष्यवक्ताओं और सम्मोहन में कुशल तान्त्रिकों के धंधे भी पर्याप्त पनप रहे हैं। इस युग में धन तथा सत्ता को किसी प्रकार प्राप्त करना तथा उन्हें बलपूर्वक पकड़े रहना युगधर्म हो गया है तथा यही समस्त भटकाव, अशान्ति और अराजकता का प्रधान कारण है। लोकतंत्र का अर्थ लूटतंत्र हो गया है।

किन्तु सात्त्विकता एवं आध्यात्मिकता की धारा क्षीण होने पर भी सदैव अक्षुण्ण रहती है। सच्चे साधकों, सिद्धपुरुषों और सद्गुरुओं की परम्परा कभी विलुप्त नहीं होती। प्रपञ्च और पाखण्ड से दूर रहकर, वे प्रकाशदीप को कभी बुझने नहीं देते तथा उसे सदा प्रज्वलित रखते हैं। वे किसी पर निर्भर नहीं होते तथा निर्भय रहते हैं। उनका न कोई सिंहासन (गद्दी) होता है, न वे किसीको उसे सौंपकर जाते हैं। अपने भीतर आध्यात्मिक प्रकाश का अनुभव करना तथा सहजभाव से उसका प्रसार करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। वे संसार में रहकर जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रहते हैं।

वास्तव में सत्य ही धर्म होता है। सत्य सर्वोपरि होता है तथा वह विविध धर्मों की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। जो धर्मगुरु संवाद को त्यागकर दुराग्रह करते हैं, वे सत्य से दूर रहते हैं। जो धर्मगुरु बलपूर्वक यह कहते हैं कि केवल उनके धर्म के अनुयायी ही स्वर्ग के अधिकारी हैं, शेष नहीं, वे सत्य

के विरोधी हैं। एक ओर श्रेष्ठ धर्मगुरु मनुष्य को परमात्मा की ओर प्रवृत्त करते हैं तथा दूसरी ओर वे लोक में श्रेष्ठ जीवन-यापन की कला सिखाते हैं। धर्म का उद्देश्य एक ही होता है—परमात्मा की प्राप्ति तथा सच्चाई और प्रेम से समाज में सार्थक जीवन-यापन की प्रेरणा देना। धर्मों के वे अंश, जो परस्पर घृणा और हिंसा (पशुबलि, विधर्मी का नाश) की शिक्षा देते हों, त्याज्य हैं। दुराग्रह से ग्रस्त होना तथा अपनी श्रेष्ठता के दंभ के कारण भेदभाव और घृणा सिखाना एक दोष है। परमात्मा की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते हैं तथा उपासना-पद्धतियाँ भी भिन्न हो सकती हैं, ऐसा स्वीकार करने पर ही सर्वधर्म-समभाव संभव हो सकता है। परस्पर संवाद द्वारा सह-अस्तित्व एवं शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि परस्पर पूरक हैं। दोनों का उद्देश्य सत्य की खोज करना है, किन्तु विज्ञान भौतिक जगत् की भौतिक सीमाओं से परे नहीं जा सकता तथा उत्तम धर्म भौतिक जगत् की सीमाओं को पार करके सूक्ष्म जगत् में प्रवेश द्वारा सृष्टि के मूल रहस्यों की खोज कर सकता है। धर्म एकांगी नहीं होता, उसमें समग्रता होती है, परिपूर्णता होती है। सच तो यह है कि जहाँ विज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है, धर्म का क्षेत्र प्रारंभ होता है।

धर्म का ध्येय सत्य की उपलब्धि एवं अनुभूति कराना होता है। जो आस्था सत्य पर आधारित नहीं होती, वह दोषपूर्ण होती है। सत्य की खोज करनेवाले अथवा सत्यनिष्ठ पुरुष कदापि दुराग्रह नहीं करते। धर्म जोड़ता है, तोड़ता नहीं है। धार्मिक व्यक्ति आध्यात्मिक अर्थात् आत्मा की ओर अभिमुख होते हैं। वे अनेकता में एकता का अनुभव करते हैं तथा प्रेम, सहयोग एवं सेवा के आदर्श का अनुपालन भी करते हैं। वास्तव में कोई भी धर्म घृणा एवं वैर की शिक्षा नहीं देता, किन्तु कट्टरपन्थी लोग संकीर्णता के कारण घृणा और वैर का प्रचार करते हैं। पवित्रता की आड़ लेकर किसी व्यक्ति या वर्ग को महान् ग्रन्थों तथा ज्ञान से वंचित नहीं किया जा सकता। सभी परमात्मा तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए समान रूप से अधिकारी हैं।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत क्या है? भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व क्या हैं? मूल की रक्षा होने से ही सम्पूर्ण वृक्ष की तथा उसके अंगों (पुष्पों, फलों इत्यादि) की सुरक्षा होना संभव होता है। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि व्यक्ति और समाज के कल्याण का मार्ग कैसे प्रशस्त हो सकता है।

काल का प्रवाह अनन्त होता है तथा विकास की प्रक्रिया भी अनन्त होती है। व्यक्ति एवं समाज के दोष तथा अपराध और अज्ञान विकास-प्रक्रिया की गति को सदा के लिए अवरुद्ध नहीं कर सकते। प्रकृति एक सूक्ष्म एवं दिव्य सत्ता से संचालित होने के कारण, ज्ञात एवं अज्ञात बलों के द्वारा व्यक्ति एवं समाज को एक उच्चतर दिशा में मानो धकेलती रहती है। प्रकृति असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर बरबस ले जाती है। जलराशि के मध्य में स्थित भँवर में फँसी हुई वस्तु को, पीछे से आनेवाला प्रबल प्रवाह बाहर निकालकर, आगे की ओर बढा देता है। विकास-प्रक्रिया में स्थायी रूप से पीछे की ओर जाना संभव नहीं होता। लम्बी दौड़ में धावक पीछे दूर तक जाकर ही तीव्र गति से आगे की ओर दौड़ता है। विनाश भी नवसृजन एवं विकास का आधार होता है। घोर अन्धकार प्रकाश की गति को कदापि अवरुद्ध नहीं कर सकता। हम पुन: उठने और आगे बढने के लिए ही गिरते हैं। हमारी संघर्षशीलता कभी विलुप्त नहीं होती। विचारों का विरोध एवं टकराहट भी श्रेष्ठ दिशा में बढने के लिए आवश्यक भूमिका बन जाते हैं। विरोध के स्वर भी अन्तत: समन्वय एवं प्रगति की प्रक्रिया को तीव्र कर देते हैं। घृणा के मध्य से प्रेम का स्रोत, अन्धकार के गह्वर से प्रकाश की किरण और निराशा के तल से आशा की ज्योति प्रस्फुटित होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह प्रकृति के सात्त्विक बलों के साथ विवेकपूर्वक संबद्ध होकर तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार यथासंभव योगदान देकर जीवन को कृतार्थ कर ले।

जो विवेकशील पुरुष ऋषियों के कालजयी तत्त्व-चिन्तन की परम्परा के साथ अन्तर्तम नाता स्थापित कर लेता है और सन्त-महात्माओं के सन्देशों एवं मनीषियों के मन्तव्यों से अवगत हो जाता है तथा लोक में जन-जीवन को भी संवेदनशील होकर जान लेता है, वह भारत की आत्मा को समझ सकता है तथा वह विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम हो जाता है और उसका जीवन भी धन्य हो जाता है।[१]

× × × × × × × × × ×

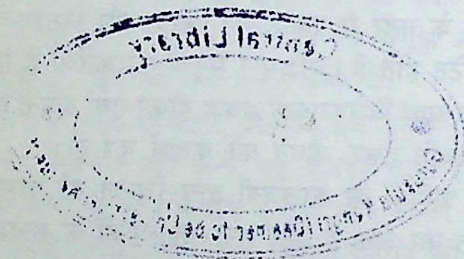
१. इसी उद्देश्य से एक भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति शोध-संस्थान की स्थापना होना आवश्यक है, जहाँ भारतीय मूल के धर्मों की पुनर्व्याख्या हो सके तथा उनकी एकता के सूत्रों की खोज हो सके और संसार के सभी अन्य धर्मों के साथ समन्वय होना भी संभव हो सके, जिससे भारत के प्रेम एवं शान्ति के कल्याणकारी सन्देश को विश्व में प्रसारित किया जा सके।

आध्यात्मिक ज्ञान एवं मीमांसा की दृष्टि से उपनिषद् संसार के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं। हमारा प्रकल्प सभी प्रमुख उपनिषदों के सरल, सुबोध, बुद्धिग्राह्य एवं विज्ञानसम्मत व्याख्यात्मक भाष्यों की रचना करना है। सुधीजन प्रचार-प्रसार में यथाशक्ति सहयोग देकर पुण्य के भागी हो सकते हैं। (हमारे शब्दार्थ, अन्वय और भावार्थ सुचिन्तित, सुनिर्णीत एवं सुनिश्चित हैं और हमारा अनेक स्थानों पर अनेक व्याख्याताओं से मतैक्य नहीं है। एक व्याख्याता ने अंग्रेजी भाषा में प्रवचन करते हुए कठोपनिषद् के कुछ मंत्रों को प्रक्षिप्त ही कह दिया, जब कि पूज्य शङ्कराचार्य से लेकर विवेकानन्द आदि तक सबने उन्हें मान्य किया है। यह उपहसनीय ही है।) हम आशा करते हैं कि सुधी पाठक उदारतापूर्वक प्रस्तुत रचना का स्वागत करेंगे।

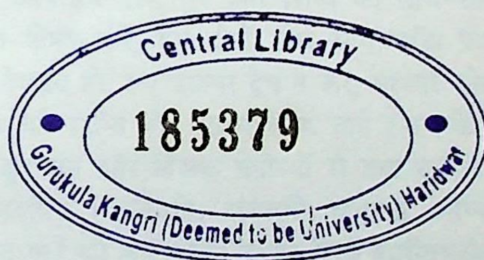
शिवानन्द

विजयनगर, मेरठ, उ० प्र०-250 001

(फोन 0121-642041)



कठोपनिषद्-दिव्यामृत



कठोपनिषद्-दिव्यामृत

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शब्दार्थ : ॐ = परमात्मा का प्रतीकात्मक नाम; **नौ** = हम दोनों (गुरु और शिष्य) को; **सह** = साथ-साथ; **अवतु** = सुरक्षित करें; **नौ** = हम दोनों को; **सह** = साथ-साथ; **भुनक्तु** = पालें, पोषित करें; **सह** = साथ-साथ; **वीर्यं** = शक्ति को; **करवावहै** = प्राप्त करें; **नौ** = हम दोनों को; **अवधीतम्** = पढ़ी हुई विद्या; **तेजस्वि** = तेजोमयी; **अस्तु** = हो; **मा विद्विषावहै** = (हम दोनों) परस्पर द्वेष न करें।

अर्थ : हे परमात्मन्, आप हम दोनों गुरु और शिष्य की साथ-साथ रक्षा करें, हम दोनों का पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें, हमारी प्राप्त की हुई विद्या तेजप्रद हो, हम परस्पर द्वेष न करें, परस्पर स्नेह करें। हे परमात्मन्, त्रिविध ताप की शान्ति हो। आध्यात्मिक ताप (मन के दुःख) की, आधिभौतिक ताप (दुष्ट जन और हिंसक प्राणियों से तथा दुर्घटना आदि से प्राप्त दुःख) की, आधिदैविक (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, अग्नि आदि प्राकृतिक प्रकोपों से प्राप्त दुःख) की शान्ति हो। **ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति** (श्वे० उप० ४.१४)। **शान्तिमन्त्र—ॐ शरणं त्रिविधतापहरणं ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।**

कठोपनिषद् (अथवा काठकोपनिषद्) उपनिषद्-प्रेमियों का कण्ठहार है। यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। इसमें दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में तीन वल्ली हैं। इस उपनिषद् में नचिकेता और यम का संवाद है, जिसमें यम ने परमात्म-तत्त्व का रोचक एवं विशद वर्णन किया है। यह उपनिषद् कठ ऋषि के नाम से जुड़ा हुआ है। **क** = ब्रह्म; **ठ** = निष्ठा; **कठ** = ब्रह्म में निष्ठा उत्पन्न करनेवाला उपनिषद्।

•

प्रथम अध्याय

प्रथम वल्ली

कठोपनिषद् (काठकोपनिषद्) के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली उपाख्यान के रूप में यम-नचिकेता के गूढ आत्मज्ञान-संवाद की मात्र भूमिका है।

महर्षि अरुण (अथवा वाजश्रवा) के पुत्र आरुणि (अथवा वाजश्रवस्) ही गौतमवंशीय उद्दालक थे। आरुणि उद्दालक की चर्चा बृहदारण्यक उपनिषद् (३.७.१, ६.३.७) में भी है। महर्षि उद्दालक ने विश्वजित् यज्ञ किया। उद्दालक का पुत्र (वाजश्रवा का पौत्र) नचिकेता अत्यन्त बुद्धिमान् एवं सात्त्विक था।

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

शब्दार्थ : ॐ = सच्चिदानन्द परमात्मा का नाम है, जो मंगलकारक एवं अनिष्टनिवारक है; **ह वै** = प्रसिद्ध है कि; **उशन्** = यज्ञ के फल की इच्छावाले; **वाजश्रवसः** = वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस् उद्दालक ने; **सर्ववेदसं** = (विश्वजित् यज्ञ में) सारा धन; **ददौ** = दे दिया; **तस्य नचिकेता नाम ह पुत्रः आस** = उसका नचिकेता नाम से प्रसिद्ध पुत्र था।

वचनामृत : वाजश्रवस् (उद्दालक) ने यज्ञ के फल की कामना करते हुए (विश्वजित् यज्ञ में) अपना सब धन दान दे दिया। उद्दालक का नचिकेता नाम से ख्यात एक पुत्र था।

व्याख्या : प्राचीन काल में यज्ञ करना और दक्षिणा आदि में दान देना एक पुण्यकृत्य माना जाता था। विश्वजित् एक महान् यज्ञ था, जिसमें सारा धन दान देकर रिक्त हो जाना गौरवमय माना जाता था। महर्षि उद्दालक ने विश्वजित् यज्ञ किया और सर्वस्व दान करके रिक्त हो गये। उनका एक पुत्र नचिकेता सब कुछ देख रहा था। अधिकांश ऋषिगण गृहस्थ होते थे तथा वनों में रहते थे। प्रायः गौएँ ही उनकी धन-सम्पत्ति होती थी।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

शब्दार्थ : दक्षिणासु नीयमानासु = दक्षिणा के रूप में देने के लिए गौओं को ले जाते समय में; **कुमारम् सन्तम्** = छोटा बालक होते हुए भी; **तम् ह श्रद्धा आविवेश** = उस (नचिकेता) पर श्रद्धाभाव (पवित्रभाव, ज्ञान-चेतना) का आवेश हो गया। **सः अमन्यत** = उसने विचार किया।

वचनामृत : जिस समय दक्षिणा के लिए गौओं को ले जाया जा रहा था, तब छोटा बालक होते हुए भी उस नचिकेता में श्रद्धाभाव (ज्ञान-चेतना, सात्त्विक-भाव) उत्पन्न हो गया तथा उसने चिन्तन-मनन प्रारंभ कर दिया।

नचिकेता में श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता थी।

व्याख्या : प्रकृति ने मनुष्य को चिन्तन-मनन की शक्ति दी है, पशु को नहीं। मनन करने से ही वह मनुष्य होता है, अन्यथा मानव की आकृति में वह पशु ही होता है। चिन्तन के द्वारा ही मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान में प्रगति की है तथा चिन्तन के द्वारा ही मनुष्य उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि का निर्णय करता है। चिन्तन के द्वारा ही विवेक उत्पन्न होता है तथा वह स्मृति, कल्पना आदि का सदुपयोग कर सकता है। चिन्तन को स्वस्थ दिशा देना श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण होता है।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥ ३॥

शब्दार्थ : पीतोदकाः = जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं; **जग्धतृणाः** = जो तिनके (घास) खा चुकी हैं, **दुग्धदोहाः** = जिनका दूध (अन्तिम बार) दुहा जा चुका है; **निरिन्द्रियाः** = जिनकी इन्द्रियाँ सशक्त नहीं रही हैं, शिथिल हो चुकी हैं; **ताः ददत्** =उन्हें देनेवाला; **अनन्दा नाम ते लोकाः** =आनन्द-रहित जो वे लोक हैं; **स तान् गच्छति** = वह उन लोकों को जाता है।

वचनामृत : (ऐसी गौएँ) जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, जो घास खा चुकी हैं, जिनका दूध दुहा जा चुका है, जो मानो इन्द्रियरहित हो गयी हैं, उनको देनेवाला उन लोकों को प्राप्त होता है, जो आनन्दशून्य हैं।

व्याख्या : नचिकेता ने सोचा कि दान में दी जानेवाली अधिकांश गौएँ मरणासन्न हैं, वे पानी पीने में तथा घास खाने में भी असमर्थ हैं, और वे अब दूध देने अथवा कुछ लाभ देने में भी असमर्थ हैं, उनका दूध दुहा जा चुका है और वे अब दूध देने योग्य नहीं रहीं। जिन गौओं की इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं, उनको दान में देनेवाला मनुष्य पाप का भागी होता है तथा उन लोकों को प्राप्त होता है, जो सब प्रकार के सुखों से शून्य हैं। कुमार नचिकेता में उत्तम और अधम, उत्कृष्ट और निकृष्ट तथा सत्य और असत्य का विवेक था, जो आध्यात्मिक साधना के लिए महत्त्वपूर्ण होता है।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यतीति।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

शब्दार्थ : स ह पितरं उवाच = वह (यह सोचकर) पिता से बोला;

तत (तात) = हे प्रिय पिता; **मां कस्मै दास्यति इति** = मुझे किसको देंगे? **द्वितीयं तृतीयं तं ह उवाच** =दूसरी, तीसरी बार (कहने पर) उससे (पिता ने) कहा; **त्वा मृत्यवे ददामि इति** =तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ।

वचनामृत : वह (नचिकेता) ऐसा विचार कर पिता से बोला—हे तात, आप मुझे किसको देंगे? दूसरी, तीसरी बार (यही कहने पर) उससे पिता ने कहा—तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ।

व्याख्या : कुमार नचिकेता में एक उदात्त सात्त्विकभाव का उदय हो गया था। उसने विचार किया कि उपयोगी वस्तु का दान देना ही पुण्यकारक हो सकता है तथा अनुपयोगी वस्तु का दान न केवल निरर्थक है, बल्कि कष्टप्रद लोक को प्राप्त भी करा देता है। सर्वस्व दान के अन्तर्गत तो पुत्र का दान भी होना चाहिए। श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर नचिकेता ने पिता से कहा—हे पिताजी, मैं भी तो आपका धन हूँ। आप मुझे किसको देंगे? उसके दो-तीन बार पिता से ऐसा कहने पर, आवेश में आकर पिता ने कहा—मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥ ५॥

शब्दार्थ : बहूनां प्रथमो एमि = बहुत से (शिष्यों) में तो प्रथम चलता आ रहा हूँ; **बहूनां मध्यमः एमि** = बहुत से (शिष्यों में) मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत चलता आ रहा हूँ; **यमस्य** = यम का; **किम् स्वित् कर्तव्यम्** =(यम का) कौन-सा कार्य हो सकता है; **यत् अद्य** = जिसे आज; **मया करिष्यति** = (पिताजी) मेरे द्वारा (मुझे देकर) करेंगे।

वचनामृत : (व्यक्तियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम अथवा प्रथम, द्वितीय और तृतीय) मैं बहुत से (शिष्यों एवं पुत्रों में) प्रथम श्रेणी में रहा हूँ, बहुत से में द्वितीय श्रेणी में रहा हूँ। यम का कौनसा ऐसा कार्य है, जिसे पिताजी मेरे द्वारा (मुझे देकर) करेंगे ?

व्याख्या : नचिकेता महर्षि उद्दालक का पुत्र एवं शिष्य था। उसने सोचा—मैं बहुत की अपेक्षा प्रथम श्रेणी में तथा बहुत की अपेक्षा द्वितीय श्रेणी में रहा हूँ तथा कभी तृतीय श्रेणी में नहीं रहा। यदि मैं उत्तम और मध्यम कोटि में नहीं रहा तो अधम भी नहीं रहा। पिताजी मुझे यमराज को देकर कौनसा कार्य पूरा करेंगे, यमराज के कौनसे प्रयोजन को पूरा करेंगे ?

नचिकेता ने यह भी सोचा—कदाचित् पिता ने क्रोधावेश में आकर मुझे यमराज को सौंपने की बात कह दी है और वे अब दुःखी होकर पश्चात्ताप कर रहे हैं। अतएव मैं उन्हें नम्रतापूर्वक सान्त्वना दूँगा। यह विचार नचिकेता

की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है तथा इंगित करता है कि नचिकेता ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने का उत्तम अधिकारी है, श्रद्धामय होने के कारण सत्पात्र है।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥

शब्दार्थ : पूर्वे यथा =पूर्वज जैसे (थे); **अनुपश्य** = उस पर विचार कीजिये; **अपरे (यथा) तथा प्रतिपश्य** =(वर्तमान काल में) दूसरे (श्रेष्ठजन) जैसे (हैं) उस पर भली प्रकार दृष्टि डालें; **मर्त्यः** =मरणधर्मा मनुष्य; **सस्यम् इव** = अनाज की भाँति; **पच्यते** = पकता है; **सस्यम् इव पुनः अजायते** = अनाज की भाँति ही पुनः उत्पन्न हो जाता है।

वचनामृत : (आपके) पूर्वजों ने जिस प्रकार का आचरण किया है, उस पर चिन्तन कीजिये, अपर अर्थात् वर्तमान में भी (श्रेष्ठ पुरुष कैसा आचरण करते हैं) उसको भी भलीभाँति देखिये। मरणधर्मा मनुष्य अनाज की भाँति पकता है (वृद्ध होता और मृत्यु को प्राप्त होता है), अनाज की भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है।

व्याख्या : नचिकेता ने अपने पिता एवं गुरु उद्दालक को पूर्वजों से चली आती हुई श्रेष्ठ आचरण की परम्परा पर दृष्टिपात करने का निवेदन किया। श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण में पहले भी सत्य का आग्रह था तथा वह अब भी ऐसा ही है। मनुष्य तो अनाज की भाँति जन्म लेता है, जीर्ण-शीर्ण होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और अनाज की भाँति ही पुनः जन्म ले लेता है। जीवन अनित्य होता है, मनुष्य के सुख भी अनित्य होते हैं, अतः क्षणभंगुर सुखों के लिए सत्य के आचरण का परित्याग करना विवेकपूर्ण नहीं होता।

नचिकेता ने अपने पिता एवं गुरु से अनुरोधपूर्वक कहा कि वह संशय छोड़कर सत्याचरण पर दृढ रहें तथा सत्य की रक्षा के लिए उसे अपने वचनानुसार मृत्यु (यमराज) के पास जाने की अनुमति दे दें। महर्षि उद्दालक ने उसकी सत्यनिष्ठा से प्रभावित होकर उसे यमराज के पास जाने की अनुमति दे दी।

यमराज के भवन में जाकर नचिकेता को ज्ञात हुआ कि वे कहीं बाहर गये हैं। नचिकेता ने बिना अन्न-जल ही तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा की। यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी ने उन्हें नचिकेता के अन्न-जल बिना ही उनकी प्रतीक्षा करने का समाचार दिया तथा उसका सम्मान करने का परामर्श दिया।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

शब्दार्थ : वैवस्वत = हे सूर्यपुत्र यमराज; **वैश्वानरःब्राह्मणःअतिथिःगृहान्**

प्रविशति =वैश्वानर (अग्निदेव) ब्राह्मण अतिथि के रूप में (गृहस्थ के) घरों में प्रवेश करते हैं (अथवा ब्राह्मण अतिथि अग्नि की भाँति घर में प्रवेश करते हैं); **तस्य** =उसकी; **एताम्** = ऐसी (पादप्रक्षालन इत्यादि के द्वारा); **शान्तिं कुर्वन्ति** = शान्ति करते हैं; **उदकं हर** = जल ले जाइये।

वचनामृत : हे यमराज, (साक्षात्) अग्निदेव ही (तेजस्वी) ब्राह्मण-अतिथि के रूप में (गृहस्थ के) घरों में प्रवेश करते हैं (अथवा ब्राह्मण-अतिथि घर में अग्नि की भाँति प्रवेश करते हैं)। (उत्तम पुरुष) उसकी ऐसी शान्ति करते हैं, आप जल ले जाइये।

व्याख्या : यमराज की पत्नी ने नचिकेता की तेजस्विता को देखकर यमराज से कहा—स्वयं अग्निदेव ही तेजस्वी ब्राह्मण-अतिथि के रूप में गृहस्थ जन के घरों में जाते हैं (अथवा तेजस्वी ब्राह्मण अग्नि की भाँति घर में प्रवेश करते हैं)। उत्तम पुरुष स्वागत करके उनको आदर-सम्मान देते हैं तथा उन्हें शान्त करते हैं। अतएव, आप पादप्रक्षालन के लिए जल ले जाइये। आपके द्वारा सम्मान एवं सेवा से ही वे प्रसन्न होंगे। नचिकेता दिव्य आभा से देदीप्यमान था।

आशा प्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥

शब्दार्थ : यस्य गृहे ब्राह्मणः अनश्नन् वसति = जिसके घर में ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है; **अल्पमेधसः पुरुषस्य** = (उस) मन्दबुद्धि पुरुष की; **आशा प्रतीक्षे** = आशा और प्रतीक्षा (कल्पित एवं इच्छित सुखद फल); **संगतम्** = उनकी पूर्ति से होनेवाले सुख (अथवा सत्संग-लाभ); **सूनृताम् च** = सुन्दर वाणी (अथवा धर्म-संवाद-लाभ); **इष्टापूर्ते च** = और इष्ट एवं आपूर्त शुभ कर्मों के फल; **सर्वान् पुत्रपशून्** = सब पुत्र और पशु; **एतद् वृङ्क्ते** = इनको नष्ट कर देता है (अथवा यह सब नष्ट हो जाता है)।

वचनामृत : जिसके घर में ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजन किये हुए रहता है, (उस) मन्दबुद्धि मनुष्य की नाना प्रकार की आशा (संभावित एवं निश्चित की आशा) और प्रतीक्षा (असंभावित एवं अनिश्चित की प्रतीक्षा), उनकी पूर्ति से प्राप्त होनेवाले सुख (अथवा सत्संग-लाभ) और सुन्दर वाणी के फल (अथवा धर्म-संवाद-श्रवण) तथा यज्ञ, दान तथा कूप-निर्माण आदि शुभ कर्मों एवं सब पुत्रों और पशुओं को (ब्राह्मण का) असत्कार नष्ट कर देता है।

व्याख्या : यमराज की पत्नी ने यमराज से कहा कि तेजस्वी ब्राह्मण-अतिथि को अपने घर पर कष्ट होने से गृहस्थ पुरुष के पुण्य क्षीण हो जाते हैं। ऐसे मन्दबुद्धि गृहस्थ पुरुष को अनेक सुखों (अथवा सत्संग-लाभ) की प्राप्ति नहीं

होती। उसकी वाणी में से सत्य, सौन्दर्य और माधुर्य (अथवा धर्म-संवाद श्रवण के लाभ) लुप्त हो जाते हैं तथा उसके यज्ञ, दान आदि इष्ट कर्म और कूप, धर्मशाला आदि के निर्माणरूप आपूर्त कर्म अर्थात् सब शुभ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। अपने घर पर धर्मात्मा, तेजस्वी एवं पूज्य अतिथि का असत्कार पुत्रों एवं पशुओं को भी विनष्ट कर देता है। '**अतिथिदेवो भव**'—अतिथि को देवतुल्य मानकर उसका सत्कार करने की प्राचीन परम्परा है।[१]

अपनी पत्नी के वचन सुनकर यमराज अविलम्ब नचिकेता के पास गये और उसकी समुचित अर्चना-पूजा की तथा इसके उपरान्त यमराज-नचिकेता का संवाद प्रारंभ हो गया।

यम-नचिकेता-उपाख्यान

अध्येता के मन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। क्या नचिकेता यमलोक में सशरीर चला गया ? वह तीन दिन तक यम की अनुपस्थिति में यम-सदन में कैसे रहा ? वास्तव में यह एक उपाख्यान है, जिसके उपदेश एवं प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का ग्रहण करना अभीष्ट है। हम इसके आलंकारिक रूप को ज्यों का त्यों अथवा यथार्थमय मानकर कथ्य को ग्रहण नहीं कर सकते। इसके वाचिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना विवेकसम्मत है। आख्यायिका-शैली का प्रयोजन उसके तत्त्वार्थ को समझाना है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय १, ब्राह्मण २, मंत्र १) में कहा है कि सृष्टि से पूर्व सब कुछ मृत्यु से ही आवृत था (**मृत्युनैवेदमावृतमासीत्**)। यहाँ मृत्यु का अर्थ ब्रह्म, प्रलय है। पुनः (मंत्र १, २, ७) कहा है कि ईश्वर के संकल्प को जाननेवाला उपासक मृत्यु को जीत लेता है तथा मृत्यु उसे पकड़ नहीं सकती (**पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति**)। आगे (मंत्र १, ३, २८) कहा है—**असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय**—हे प्रभो, मुझे असत् से सत्, तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, मुझे अमृतस्वरूप कर दो।

यम-नचिकेता का उपाख्यान ऋग्वेद के दसवें मंडल में कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है। वहाँ नचिकेता पिता की इच्छा से यम के समीप जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उपाख्यान कुछ विकसित रूप में वर्णित है, जहाँ नचिकेता को

१. **अतिथिदेवो भव** (तै०उप० १.११.२)

यमराज तीन वरदान देता है। कठोपनिषद् के उपाख्यान तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के उपाख्यान में पर्याप्त समानता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के उपाख्यान में यमराज मृत्यु पर विजय के लिए कुछ यज्ञादि का उपाय कहता है, किन्तु कठोपनिषद् कर्मकाण्ड से ऊपर उठकर ब्रह्मज्ञान की महत्ता को प्रतिष्ठित करता है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड को ज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है।

यद्यपि यम-नचिकेता-संवाद ऋग्वेद तथा तै० ब्राह्मण में भी एक कल्पित उपाख्यान के रूप में ही है, कठोपनिषद् के ऋषि ने इसे एक आलंकारिक शैली में प्रस्तुत करके इसे काव्यात्मक सौंदर्य का रोचक पुट दे दिया है। कठोपनिषद् जैसे श्रेष्ठ ज्ञान-ग्रन्थ का समारंभ रोचक, हृदयग्राही एवं सुन्दर होना उसके अनुरूप ही है। मृत्यु के यथार्थ को समझाने के लिए साक्षात् मृत्यु के देवता यमराज को यमाचार्य के रूप में प्रस्तुत करना कठोपनिषद् के प्रणेता का अनुपम नाटकीय कौशल है। यह कल्पनाशक्ति के प्रयोग का भव्य स्वरूप है।

वैदिक-साहित्य में आचार्य को 'मृत्यु' के महत्त्वपूर्ण पद से अलंकृत किया गया है। '**आचार्यो मृत्युः।**' आचार्य मानो माता की भाँति तीन दिन और तीन रात गर्भ में रखकर नवीन जन्म देता है—**तिस्रो रात्रीः गर्भं बिभर्ति**। यह तप की महत्ता का आलंकारिक वर्णन है। 'नचिकेता' का अर्थ 'न जाननेवाला, जिज्ञासु' है तथा यमराज यमाचार्य है, मृत्यु के सदृश आँखें खोलनेवाले गुरु।

मृत्यु विवेकदायिनी गुरु है। जीवन के यथार्थ को जानने के लिए मृत्यु के रहस्य को समझना अत्यावश्यक है क्योंकि जीवन का स्वाभाविक अवसान मृत्यु के रूप में होता है। जीवन की पहेली का समाधान मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन करने में सन्निहित है। जीवन मानो मृत्यु की धरोहर है तथा वह इसे चाहे जब विलुप्त कर सकती है। सारे संसार को अपने आतंक से प्रकम्पित कर देनेवाले महापराक्रमी मनुष्य क्षणभर में सदा के लिए तिरोहित हो जाते हैं। जीवन और मृत्यु का रहस्य अनन्तकाल से जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। धर्मग्रन्थों ने तथा मनीषीजन ने इसके अगणित समाधान प्रस्तुत किये हैं, तथापि रहस्य का उद्घाटन एक गंभीर समस्या बना हुआ है। जीवन का उद्गम कहाँ से होता है, जीवन क्या है और मृत्यु क्या है? जीवन और मृत्यु का यथार्थ जानने पर जीवन एक उल्लास तथा मृत्यु एक उत्सव हो जाते हैं। अज्ञान के कारण मृत्यु एक भयप्रद घटना तथा जीवन निरुद्देश्य भटकाव प्रतीत होते हैं। साक्षात् मृत्युदेव (यमराज) से ही जीवन और मृत्यु के रहस्य को जानने से बढकर अन्य क्या उपाय हो सकता है? जिज्ञासु नचिकेता यमराज का शरणागत, भयत्रस्त व्यक्ति नहीं है, बल्कि पूज्य अतिथि है और सम्मानपूर्वक उपदेश ग्रहण करता है। यह

ब्रह्मज्ञान की महिमा है, जो दाता और गृहीता दोनों को पवित्र कर देता है। कठोपनिषद् के ऋषि का कल्पना-कौशल तथा शिक्षण-शैली दोनों अनुपम हैं।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्ते अस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे अस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

शब्दार्थ : ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण देवता; **नमस्यः अतिथिः** = आप नमस्कार के योग्य अतिथि हैं; **ते नमः अस्तु** = आपको नमस्कार हो; **ब्रह्मन् मे स्वस्ति अस्तु** = हे ब्राह्मण देवता, मेरा शुभ हो; **यत् तिस्रः रात्रीः मे गृहे अनश्नन् अवात्सीः** = (आपने) जो तीन रात मेरे घर में बिना भोजन ही निवास किया; **तस्मात्** =अतएव; **प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व** = प्रत्येक के लिए आप (कुल) तीन वर माँग लें।

वचनामृत : यमराज ने कहा, हे ब्राह्मण देवता, आप वन्दनीय अतिथि हैं। आपको मेरा नमस्कार हो। हे ब्राह्मण देवता, मेरा शुभ हो। आपने जो तीन रात्रियाँ मेरे घर में बिना भोजन ही निवास किया, इसलिए आप मुझसे प्रत्येक के बदले एक अर्थात तीन वर माँग लें।

व्याख्या : ब्रह्मज्ञान का अधिकारी जिज्ञासु सम्मान के योग्य होता है। सम्मान पाकर ही वह निर्भीक भाव से संवाद कर सकता है। यमराज नचिकेता को नमस्कार करते हैं तथा उचित सम्मान देकर अपने कल्याण की कामना करते हैं। वे अपने घर में तीन रात बिना भोजन रहने के दोष का परिमार्जन करने के लिए नचिकेता से तीन वर माँगने का प्रस्ताव रखते हैं।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

शब्दार्थ : मृत्यो = हे मृत्युदेव; **यथा गौतमःमा अभि** =जिस प्रकार गौतम-वंशीय उद्दालक मेरे प्रति; **शान्तसङ्कल्पःसुमनाः वीतमन्युःस्यात्** =शान्त सङ्कल्पवाले, प्रसन्नचित्त, क्रोधरहित हो जायँ; **त्वत्प्रसृष्टं मा प्रतीतःअभिवदेत्** =आपके द्वारा भेजा जाने पर वे मुझ पर विश्वास करते हुए मेरे साथ प्रेमपूर्वक बात करें; **एतत्** = यह; **त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे** = तीन में प्रथम वर माँगता हूँ।

वचनामृत : हे मृत्युदेव, जिस प्रकार भी गौतमवंशीय (मेरे पिता) उद्दालक मेरे प्रति शान्त सङ्कल्पवाले (चिन्तारहित), प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित एवं खेदरहित हो जायँ, आपके द्वारा वापस भेजे जाने पर वे मेरा विश्वास करके मेरे साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप कर लें, (मैं) यह तीन में से प्रथम वर माँगता हूँ।

व्याख्या : नचिकेता पिता एवं गुरु को अपने आचरण से प्रसन्न करने को प्राथमिकता देता है। यह नचिकेता की श्रेष्ठता का लक्षण है। वह प्रथम वर में

यही माँगता है कि वापस लौटने पर पिता चिन्ताशून्य, प्रसन्नचित्त, क्रोधरहित होकर उससे पूर्ववत् स्नेह करें और संलाप करें। सुयोग्य पुत्र पिता के परितोष को महत्त्व देता है।

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

शब्दार्थ : त्वां मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ददृशिवान् = तुझे मृत्यु के मुख से प्रमुक्त हुआ देखने पर; **मत्प्रसृष्टः आरुणिःऔद्दालकिः** = मेरे द्वारा प्रेरित, आरुणि उद्दालक (तुम्हारा पिता); **यथा पुरस्ताद् प्रतीतः** = पहले की भाँति ही विश्वास करके; **वीतमन्युःभविता** = क्रोधरहित एवं दुःखरहित हो जायगा; **रात्रीःसुखम् शयिता** = रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेगा।

वचनामृत : यमराज ने नचिकेता से कहा—तुझे मृत्यु के मुख से प्रमुक्त देखने पर मेरे द्वारा प्रेरित उद्दालक (तुम्हारा पिता) पूर्ववत् विश्वास करके क्रोध एवं दुःख से रहित हो जायगा, (जीवनभर) रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेगा।

व्याख्या : यमराज ने नचिकेता को उसकी इच्छानुसार वरदान दिया कि उसके पिता उद्दालक उसे मृत्यु से प्रमुक्त देखकर पूर्ववत् विश्वास करेंगे तथा क्रोध एवं शोक से रहित होकर शेष जीवन में रात्रियों में निश्चिन्त होकर सोयेंगे, क्योंकि मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया है।

यमदेव की कृपा से नचिकेता मृत्यु द्वारा प्रमुक्त हुआ। वास्तव में वह यमराज के दैवी प्रसाद से मृत्युभय से विमुक्त हो गया। यह नचिकेता के ब्रह्मज्ञान द्वारा मृत्यु पर विजय की पूर्वसूचना भी है।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १२॥

शब्दार्थ : स्वर्गे लोके किञ्चन भयम् न अस्ति = स्वर्गलोक में किञ्चित् भय नहीं है; **तत्र त्वं न** = वहाँ आप (मृत्यु) भी नहीं हैं; **जरया न बिभेति** = कोई वृद्धावस्था से नहीं डरता; **स्वर्गलोके** = स्वर्गलोक में (वहाँ के निवासी); **अशनायापिपासे** = भूख और प्यास; **उभे तीर्त्वा** = दोनों को पार करके; **शोकातिगः** = शोक (दुःख) से दूर रहकर; **मोदते** = सुख भोगते हैं।

वचनामृत : नचिकेता ने कहा—स्वर्गलोक में किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं है। वहाँ आप (मृत्युस्वरूप) भी नहीं हैं। वहाँ कोई जरा (वृद्धावस्था) से नहीं डरता। स्वर्गलोक के निवासी भूख-प्यास दोनों को पार करके, शोक (दुःख) से दूर रहकर सुख भोगते हैं।

व्याख्या : नचिकेता ने स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहा—स्वर्गलोक में

भय नहीं होता। वहाँ मृत्यु भी नहीं होती। वहाँ वृद्धावस्था भी नहीं होती। वहाँ भूख-प्यास भी नहीं होते। वहाँ के निवासी दु:ख नहीं भोगते तथा सुखपूर्वक रहते हैं।

वास्तव में स्वर्ग चेतना की एक उच्चावस्था है, जब मनुष्य भय और चिन्ता से मुक्त रहता है तथा वृद्धावस्था और मृत्यु से पार चला जाता है और भूख-प्यास भी नहीं सताते। यह मानवीय चेतना के उच्च स्तर पर आनन्दभाव की एक अवस्था है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (२.१२) में कहा गया है—अभ्यास करते हुए जब योगी का पाँचों महाभूतों (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पर अधिकार हो जाता है, तब शरीर योगाग्निमय हो जाता है और योगी रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है। वह इच्छानुसार प्राणत्याग करता है। ऐसा ही योगदर्शन (३.४३, ४४, ४५, ४६) में भी कहा गया है

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् (श्वेत०उप० २.१२)

आध्यात्मिक साधक देहाध्यास (मैं देह हूँ यह भाव) से मुक्त होकर ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति कर सकता है।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

शब्दार्थ : मृत्यो = हे मृत्युदेव; **स त्वं स्वर्ग्यम् अग्निं अध्येषि** = वह आप स्वर्ग-प्राप्ति के साधनरूप अग्नि को जानते हैं; **त्वं मह्यम् श्रद्दधानाय प्रब्रूहि** =आप मुझ श्रद्धालु को (उस अग्नि को) बतायें। **स्वर्गलोका:अमृतत्वं भजन्ते** = स्वर्गलोक के निवासी अमरत्व को प्राप्त होते हैं; **एतद् द्वितीयेन वरेण वृणे** = (मैं) यह दूसरा वर माँगता हूँ।

वचनामृत : हे मृत्युदेव, वह आप स्वर्गप्राप्ति की साधनरूप अग्नि को जानते हैं। आप मुझ श्रद्धालु को उसे बता दें। स्वर्गलोक के निवासी अमृतभाव को प्राप्त हो जाते हैं। मैं यह दूसरा वर माँगता हूँ।

व्याख्या : नचिकेता ने यमराज से स्वर्ग के सुखों की चर्चा करते हुए कहा—वहाँ वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु का भय नहीं है, भूख-प्यास का कष्ट भी नहीं है तथा वहाँ के निवासी शोक को पार करके आनन्द भोगते हैं, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का साधनरूप अग्नि-विज्ञान क्या है? हे देव, मैं श्रद्धालु होने के कारण इस महत्त्वपूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सत्पात्र हूँ। कृपया मुझे इसका उपदेश करें। यह मैं दूसरा वर माँगता हूँ।

वास्तव में नचिकेता यह मात्र जिज्ञासा-संतुष्टि के लिए पूछता है। स्वर्गाग्नि को जानकर वह इसे अनावश्यक कह देगा, क्योंकि उसकी प्रधान रुचि तृतीय वर द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने में है। उपनिषद् कर्मकाण्ड को ज्ञानप्राप्ति की अपेक्षा तुच्छ एवं निम्न घोषित करते हैं। (मंत्र १४, १५, १६, १७, १८ में अग्नि-विज्ञान की चर्चा की गयी है।)

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥ १४॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **स्वर्ग्यम् अग्निम् प्रजानन् ते प्रब्रवीमि** = स्वर्गप्राप्ति की साधनरूप अग्निविद्या को भली प्रकार जाननेवाला मैं तुम्हें इसे बता रहा हूँ; **तत् उ मे निबोध** = उसे भली प्रकार मुझसे जान लो; **त्वं एतम्** = तुम इसे; **अनन्तलोकाप्तिम्** = अनन्तलोक की प्राप्ति करानेवाली; **प्रतिष्ठाम्** =उसकी आधाररूपा; **अथो** = तथा; **गुहायाम् निहितम्** = बुद्धिरूपी गुहा में स्थित (अथवा रहस्यमय एवं गूढ); **विद्धि** =समझो।

वचनामृत : हे नचिकेता, स्वर्गप्रदा अग्निविद्या को जाननेवाला मैं तुम्हारे लिए भलीभाँति समझाता हूँ। (तुम) इसे मुझसे जान लो। तुम इस विद्या को अनन्तलोक की प्राप्ति करानेवाली, उसकी आधाररूपा और गुहा में स्थित समझो।

व्याख्या : यमराज अग्निविद्या के ज्ञाता हैं और वे नचिकेता को इसे यथार्थ रूप में समझाने का आश्वासन देते हैं। यह विद्या अनन्तलोक को प्राप्त करा देती है तथा हृदय-गुहा में निगूढ रहती है तथा अत्यन्त रहस्यमय है। धर्म का तत्त्व हृदय-गुहा में ही सन्निहित रहता है। **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।**

उपनिषद् कर्मकाण्ड तथा स्वर्ग आदि को महत्त्व नहीं देते तथा अन्तःकरण की शुद्धि ही कर्मकाण्ड का उद्देश्य होता है। तत्त्वज्ञान ही सर्वोच्च है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

शब्दार्थ : तम् लोकादिम् अग्निम् तस्मै उवाच = उस लोकादि (स्वर्ग-लोक की साधन-रूपा) अग्निविद्या को उस (नचिकेता) को कह दिया; **या वा यावतीः इष्टकाः** = (उसमें कुण्डनिर्माण आदि के लिए) जो-जो अथवा जितनी-जितनी ईंटें (आवश्यक होती हैं); **वा यथा** = अथवा जिस प्रकार (उनका चयन हो; **च स अपि तत् यथोक्तम् प्रत्यवदत्** = और उस (नचिकेता) ने भी उसे जैसा कहा गया था, पुनः सुना दिया; **अथ** = इसके बाद; **मृत्युः अस्य तुष्टः** = यमराज उस पर संतुष्ट होकर; **पुनः एव आह** = पुनः बोले।

वचनामृत : उस लोकादि अग्निविद्या को उसे (नचिकेता को) कह दिया।

(कुण्डनिर्माण इत्यादि में) जो-जो अथवा जितनी-जितनी ईंटें (आवश्यक होती हैं) अथवा जिस प्रकार (उनका चयन हो)। और, उस (नचिकेता) ने भी उसे जैसा कहा गया था, पुनः सुना दिया। इसके बाद यमराज उस पर संतुष्ट होकर पुनः बोले।

व्याख्या : आचार्यरूप यमदेव ने स्वर्गलोक की साधनरूपा अग्निविद्या की गोपनीयता कहकर नचिकेता को उसे समझा दिया। यमदेव ने कुण्डनिर्माण आदि के लिए जिस आकार की और जितनी ईंटें आवश्यक होती हैं तथा उनका जिस प्रकार चयन होता है, यह सब समझा दिया। नचिकेता कुशाग्रबुद्धि था, अतएव उसने जैसा सुना था, वैसा ही सुना दिया।

यमाचार्य ने उसकी बुद्धि की विलक्षणता से संतुष्ट होकर उसे इसके आगे भी कुछ समझाया।

तमब्रवीत प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १६॥

शब्दार्थ : प्रीयमाणः महात्मा तम् अब्रवीत् = प्रसन्न एवं परितुष्ट हुए महात्मा यमराज उससे बोले; **अद्य तव इह भूयः वरम् ददामि** = अब (मैं) तुम्हें यहाँ पुनः (एक अतिरिक्त) वर देता हूँ; **अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता** = यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से (प्रख्यात) होगी; **च इमाम् अनेकरूपाम् सृङ्काम् गृहाण** = और इस अनेक रूपोंवाली (रत्नों की) माला को स्वीकार करो।

वचनामृत : महात्मा यमराज प्रसन्न एवं परितुष्ट होकर उससे बोले—अब मैं तुम्हें यहाँ पुनः एक (अतिरिक्त) वर देता हूँ। यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से विख्यात होगी। और, इस अनेक रूपोंवाली माला को स्वीकार करो।

व्याख्या : यदि गुरु शिष्य के आचरण से प्रसन्न हो जाता है तो वह उसे अपना सर्वस्व लुटा देना चाहता है। आचार्यरूप महात्मा यमराज ने परम प्रसन्न एवं परितुष्ट होकर नचिकेता को बिना उसके माँगे हुए ही एक अतिरिक्त वर दे दिया कि वह विशेष अग्नि भविष्य में 'नाचिकेत अग्नि' के नाम से प्रख्यात होगी। अतिप्रसन्न यमराज ने नचिकेता को एक दिव्य माला (रत्नमाला) भी भेट कर दी।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

शब्दार्थ : त्रिणाचिकेतः = नाचिकेत अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करनेवाला; **त्रिभिः सन्धिम् एत्य** = तीनों (ऋक्, साम, यजुः वेद) के साथ सम्बन्ध

जोड़कर, अथवा माता, पिता, गुरु से सम्बद्ध होकर **मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् ब्रूयात्** (बृ० उप० ४.१.२); **त्रिकर्मकृत** = तीन कर्मों (यज्ञ, दान, तप) को करनेवाला मनुष्य; **जन्ममृत्यू तरति** = जन्म और मृत्यु को पार कर लेता है, जन्म और मृत्यु के चक्र से ऊपर उठ जाता है; **ब्रह्मजज्ञम्** =ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि (अथवा अग्निदेव) के जाननेवाले; 'ब्रह्मजज्ञ' का अर्थ अग्नि भी है, जैसे अग्नि को जातवेदा भी कहते हैं। 'ब्रह्मजज्ञ' का एक अर्थ सर्वज्ञ भी है ''**ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् जातो ब्रह्मजः, ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो हि असौ** (शङ्कराचार्य)।'' **ईड्यम् देवम्** = स्तवनीय अग्निदेव (अथवा ईश्वर) को; **विदित्वा** = जानकर; **निचाय्य** = इसका चयन करके, इसको भली प्रकार समझकर, देखकर; **इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति** = इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

वचनामृत : जो भी मनुष्य इस नाचिकेत अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करता है और तीनों (ऋक्, साम, यजुः वेदों) से सम्बद्ध हो जाता है तथा तीनों कर्म (यज्ञ, दान, तप) करता है, वह जन्म-मृत्यु को पार कर लेता है। वह ब्रह्मा से उत्पन्न उपासनीय अग्निदेव को जानकर और उसकी अनुभूति करके परम-शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या : यह मंत्र गूढ है तथा इसके अनेक अर्थ किये गये हैं। नाचिकेत अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करनेवाला तथा तीन प्रमुख वेदों (ऋक्, साम, यजुः) से सम्बद्ध होनेवाला पुरुष यज्ञ, दान और तप करते हुए, जन्म और मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है। ब्रह्मा से उत्पन्न अग्निदेव को जाननेवाला मनुष्य उपास्य अग्नि को (अग्नि-विज्ञान को) जानकर और उसे समझकर दैवीभाव (दिव्यता) को प्राप्त कर लेता है। वेदों में 'अग्नि' परमात्मा का प्रतीक एवं सूचक है। वह ब्रह्म का ही स्वरूप है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

शब्दार्थ : **एतत् त्रयम्** = इन तीनों (ईंटों के स्वरूप, संख्या और चयन विधि) को; **विदित्वा** = जानकर; **त्रिणाचिकेतः** = तीन बार नाचिकेत अग्नि का अनुष्ठान करनेवाला; **य एवम् विद्वान्** =जो भी इस प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुषः **नाचिकेतम् चिनुते** = नाचिकेत अग्नि का चयन करता है; **स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य** = वह मृत्यु के पाशों को अपने सामने ही (अपने जीवनकाल में ही) काटकर; **शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते** = शोक को पार करके स्वर्ग-लोक में आनन्द का अनुभव करता है। (**मृत्युं जयति मृत्युञ्जयः**)

वचनामृत : इन तीनों (ईंटों के स्वरूप, संख्या और चयन-विधि) को

जानकर तीन बार नाचिकेत अग्नि का अनुष्ठान करनेवाला जो भी विद्वान् पुरुष नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह (अपने जीवनकाल में ही) मृत्यु के पाशों को अपने सामने ही काटकर, शोक को पार कर, स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है।

व्याख्या : नाचिकेत अग्निविद्या की महिमा का कथन करते हुए यमराज ने कहा कि जो भी इस विद्या का जाननेवाला विद्वान् इसका अनुष्ठान करता है, वह अपने जीवनकाल में ही मृत्यु से मुक्त होकर मृत्युञ्जय हो जाता है। वह शोक को पार कर, चेतना की उच्चावस्था में स्थित हो जाता है और दैवी आनन्द को भोग लेता है। वह स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। वास्तव में सारे लोक सूक्ष्म रूप में अपने भीतर भी हैं।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १९॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **एष ते स्वर्ग्यः अग्निः** = यह तुमसे कही हुई स्वर्ग की साधनरूपा अग्निविद्या है; **यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः** =जिसे तुमने दूसरे वर से माँगा था; **एतम् अग्निम्** = इस अग्नि को; **जनासः** =लोग; **तव एव प्रवक्ष्यन्ति** =तुम्हारी ही (तुम्हारे नाम से ही) कहा करेंगे; **नचिकेतः** = हे नचिकेता; **तृतीयम् वरम् वृणीष्व** =तीसरा वर माँगो।

वचनामृत : हे नचिकेता, यह तुमसे कही हुई स्वर्गसाधनरूपा अग्निविद्या है, जिसे तुमने दूसरे वर से माँगा था। इस अग्नि को लोग तुम्हारे नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेता, तीसरा वर माँगो।

व्याख्या : यमराज ने नचिकेता को यह कहकर सम्मान दिया कि भविष्य में लोग इस अग्नि को 'नाचिकेत अग्नि' कहेंगे। तदुपरान्त यमराज ने नचिकेता को तीसरा वर माँगने की अनुमति दी। नचिकेता के तीन अभीप्सित वरों में एक सोपानात्मकता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर ज्ञानात्मक है। आत्मज्ञान ही उपनिषदों का प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य है।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ २०॥

शब्दार्थ : प्रेते मनुष्ये या इयं विचिकित्सा = मृतक मनुष्य के संबंध में यह जो संशय है; **एके अयम् अस्ति इति** = कोई तो (कहते हैं) यह आत्मा (मृत्यु के बाद) रहता है; **च एके न अस्ति इति** = और कोई (कहते हैं) नहीं रहता है; **त्वया अनुशिष्टः अहम्** = आपके द्वारा उपदिष्ट मैं; **एतत् विद्याम्** = इसे भली प्रकार जान लूँ; **एष वराणाम् तृतीयः वरः** = यह वरों में तीसरा वर है।

वचनामृत : मृतक मनुष्य के संबंध में यह जो संशय है कि कोई कहते हैं कि यह आत्मा (मृत्यु के पश्चात्) रहता है और कोई कहते हैं कि नहीं रहता, आपसे उपदेश पाकर मैं इसे जान लूँ, यह वरों में तीसरा वर है।

व्याख्या : जिज्ञासाप्रेरित नचिकेता पिता की परितुष्टि का वर और अग्नि-विज्ञान का वर प्राप्त करने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझाने का तीसरा वर माँगता है। नचिकेता कहता है—हे यमराज, मृतक व्यक्ति के संबंध में कोई कहता है कि मृत्यु के उपरान्त उसके आत्मा का अस्तित्व रहता है और कोई कहता है कि नहीं रहता, कृपया मुझे इसे समझा दें। यह नचिकेता का अभीष्ट और श्रेष्ठ वर है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता ने तीसरे वर में पुनर्मृत्यु (जन्म-मृत्यु) पर विजय-प्राप्ति का साधन पूछा है। **तृतीयं वृणीष्वेति। पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि।**

एक कुमार से ऐसे गूढ प्रश्न की आशा नहीं की जा सकती। अतएव यमदेव ने नचिकेता के सच्चा अधिकारी अथवा सुपात्र होने की परीक्षा ली। यमदेव ने देर तक उसे टालने का प्रयत्न किया, किन्तु यह संभव न हो सका। इससे संवाद में रोचकता आ गयी है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **अत्र पुरा देवैः अपि विचिकित्सितम्** = यहाँ (इस विषय में) पहले देवताओं द्वारा भी सन्देह किया गया; **हि एषः धर्मः अणुः** = क्योंकि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है; न **सुविज्ञेयम्** = सरल प्रकार से जानने के योग्य नहीं है; **अन्यम् वरम् वृणीष्व** = अन्य वर माँग लो; **मा मा उपरोत्सीः** = मुझ पर दबाव मत डालो; **एनम् मा अतिसृज** = इस (आत्मज्ञान-सम्बन्धी वर) को मुझे छोड़ दो।

वचनामृत : हे नचिकेता, इस विषय में पहले भी देवताओं द्वारा सन्देह किया गया था, क्योंकि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है और सुगमता से जानने योग्य नहीं है। तुम कोई अन्य वर माँग लो। मुझ पर बोझ मत डालो। इस आत्मज्ञान संबंधी वर को मुझे छोड़ (लौटा) दो।

व्याख्या : अध्यात्मविद्या दुर्विज्ञेय है। अग्निविद्या आदि कर्मकाण्ड के विषयों को समझना सरल है, किन्तु ब्रह्मविद्या का उपदेश करना और ग्रहण करना अत्यन्त कठिन है। यमदेव ने नचिकेता से कहा—यह विषय तो अत्यन्त गूढ है तथा सुगम नहीं है। अतः तुम कोई अन्य वर माँग लो और इस वर को मुझे ही छोड़ दो। वास्तव में यमदेव न केवल नचिकेता के औत्सुक्य को उद्दीप्त कर

रहे हैं और उसकी पात्रता की परीक्षा ले रहे हैं, बल्कि उसके मन में ब्रह्मज्ञान की महिमा को प्रतिष्ठित भी कर रहे हैं।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यत्र सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ २२॥

शब्दार्थ : मृत्यो = हे यमराज; **त्वम् यत् आत्थ** = आपने जो कहा; **अत्र किल देवैः अपि विचिकित्सितम्** = इस विषय में वास्तव में देवताओं द्वारा भी संशय किया गया; **च न सुविज्ञेयम्** = और वह सुविज्ञेय भी नहीं है; **च अस्य वक्ता** = और इसका वक्ता; **त्वादृक् अन्यः न लभ्यः** =आपके सदृश अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता; **एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न** = इस (वर) के समान अन्य कोई वर नहीं है।

वचनामृत : नचिकेता ने कहा—हे यमराज, आपने जो कहा कि इस विषय में वास्तव में देवताओं द्वारा भी संशय किया गया और वह (विषय) सुगम भी नहीं है। और, इसका उपदेष्टा आपके तुल्य अन्य कोई लभ्य नहीं हो सकता। इस (वर) के समान अन्य कोई वर नहीं है।

"**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः**" (गीता, १०.१६)

व्याख्या : नचिकेता अपनी गहन उत्सुकता तथा निश्चय की दृढता का परिचय देता है तथा यम द्वारा आग्रह न करने के परामर्श को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है—हे यमराज, आपका कथन ठीक है कि देवता भी आत्मतत्त्व के विषय में संशयग्रस्त हैं और निर्णय नहीं ले पाते, किन्तु आप मृत्यु के देवता हैं और आपके समान कोई अन्य उपदेष्टा यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं। मेरे प्रश्न द्वारा याचित वरदान के तुल्य महत्त्वपूर्ण अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। यह एक विचित्र संयोग है कि आपके सदृश इस विषय का कोई अन्य ज्ञाता नहीं है और अध्यात्मविद्या के वर के समान अन्य कोई वर भी नहीं हो सकता।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

शब्दार्थः शतायुषः = शतायुवाले; **पुत्रपौत्रान्** =बेटे पोतों को; **बहून् पशून्** =बहुत से गौ आदि पशुओं को; **हस्तिहिरण्यम्** =हाथी और हिरण्य (स्वर्ण) को; **अश्वान् वृणीष्व** = अश्वों को माँग लो; **भूमेः महत् आयतनम्** =भूमि के महान् विस्तार को; **वृणीष्व** = माँग लो; **स्वयम् च** = तुम स्वयं भी; **यावत् शरदः इच्छसि जीव** = जितने शरद् ऋतुओं (वर्षों) तक इच्छा करो, जीवित रहो।

वचनामृत : शतायु (दीर्घायु) पुत्र-पौत्रों को, बहुत से (गौ आदि) पशुओं

को, हाथी-सुवर्ण को, अश्वों को माँग लो, भूमि के महान् विस्तार को माँग लो, स्वयं भी जितने शरद् ऋतुओं (वर्षों) तक इच्छा हो, जीवित रहो।

व्याख्या : यमराज ने नचिकेता को एक कुमार के मन की अवस्था के अनुरूप धन-धान्य माँग लेने के लिए कहा। यमराज ने उसे दीर्घायुवाले बेटे-पोते, बहुत से गौ आदि पशु, गज, अश्व, भूमि के विशाल क्षेत्र, स्वयं की भी यथेच्छा आयु प्राप्त करने का प्रलोभन दिया और समझाया कि वह आत्मविद्या को सीखने के लिए उसे विवश न करे।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ २४॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **यदि त्वम् एतत् तुल्यम् वरम् मन्यसे वृणीष्व** = यदि तुम इस आत्मज्ञान के समान (किसी अन्य) वर को मानते हो, माँग लो; **वित्तं चिरजीविकाम्** = धन को और अनन्तकाल तक जीवन-यापन के साधनों को; **च महाभूमौ** = और विशाल भूमि पर; **एधि** = फलो-फूलो, बढो, शासन करो; **त्वा कामानाम् कामभाजम् करोमि** = तुम्हें (समस्त) कामनाओं का उपभोग करनेवाला बना देता हूँ।

वचनामृत : हे नचिकेता, यदि तुम इस आत्मज्ञान के समान (किसी अन्य) वर को माँगते हो, माँग लो—धन को, जीवन-यापन के साधनों को और विशाल भूमि पर (अधिपति होकर) वृद्धि करो, शासन करो। तुम्हें (समस्त) कामनाओं का उपभोग करनेवाला बना देता हूँ।

व्याख्या : यमराज नचिकेता के मन को प्रलुब्ध करने के लिए अनेक कामोपभोगों की गणना करते हैं—अपार धन, जीवन-यापन के साधन, विशाल भूमि पर शासन, अनन्त कामनाओं का भोगी। यमराज नचिकेता से कहते हैं कि वह आत्मज्ञान के समान किसी भी अन्य वर को माँग ले, जिसे वह उपयुक्त समझता हो। वास्तव में यमाचार्य नचिकेता के मन में आत्मज्ञान के प्रति उसकी उत्सुकता बढा रहे हैं और उसकी पात्रता को परख भी रहे हैं।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

शब्दार्थ : ये ये कामाः **मर्त्यलोके दुर्लभाः (सन्ति)** = जो-जो भोग मनुष्यलोक में दुर्लभ हैं; **सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व** =उन सम्पूर्ण भोगों को इच्छानुसार माँग लो; **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः** = रथोंसहित, तूर्यों (वाद्यों, बाजों) सहित, इन स्वर्ग की अप्सराओं को; **मनुष्यैः ईदृशाः न हि लम्भनीयाः**

= मनुष्यों द्वारा ऐसी स्त्रियाँ प्राप्य नहीं हैं, **मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व** = मेरे द्वारा प्रदत्त इनसे सेवा कराओ; **नचिकेतः** = हे नचिकेता; **मरणं मा अनुप्राक्षीः** = मरण (के संबंध में प्रश्न को) मत पूछो।

वचनामृत : हे नचिकेता, जो-जो भोग मृत्युलोक में दुर्लभ हैं, उन सबको इच्छानुसार माँग लो—रथोंसहित, वाद्योंसहित इन अप्सराओं को (माँग लो), मनुष्यों द्वारा निश्चय ही ऐसी स्त्रियाँ अलभ्य हैं। इनसे अपनी सेवा कराओ, मृत्यु के संबंध में मत पूछो।

व्याख्या : यमाचार्य अनेक प्रकार से नचिकेता के अधिकारी (सुपात्र) होने की परीक्षा ले रहे हैं तथा मानवकल्पित संपूर्ण भोगों का प्रलोभन दिखा देते हैं। वे नचिकेता से कहते हैं कि वह स्वर्ग की अप्सराओं को, स्वर्गीय रथों और वाद्यों के सहित ले जाए जो मृत्युलोक के मनुष्यों के लिए अलभ्य हैं तथा उनसे सेवा कराए, किन्तु आत्मज्ञानविषयक प्रश्न न पूछे। किन्तु नचिकेता वैराग्यसम्पन्न और दृढनिश्चयी था। आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासु के लिए वैराग्यभाव तथा दृढनिश्चय होना आवश्यक होता है, अन्यथा वह अपनी साधना में अडिग नहीं रह सकता।

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वम् जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

शब्दार्थ : अन्तक = हे मृत्यो, **श्वो भावाः** = कल तक ही रहनेवाले अर्थात् नश्वर, क्षणिक, क्षणभंगुर ये भोग; **मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणाम् यत् तेजः एतत् जरयन्ति** = मरणशील मनुष्य की सब इन्द्रियों का जो तेज (है) उसे क्षीण कर देते हैं; **अपि सर्वम् जीवितम् अल्पम् एव** = इसके अतिरिक्त समस्त आयु अल्प ही है; **तव वाहाः नृत्यगीते तव एव** =आपके रथादि वाहन, स्वर्ग के नृत्य और संगीत आपके ही (पास) रहें।

वचनामृत : हे यमराज, (आपके द्वारा वर्णित) कल तक ही रहनेवाले (एक ही दिन के, क्षणभंगुर) भोग मरणधर्मा मनुष्य की सब इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त आयु अल्प ही है। आपके रथादि वाहन, स्वर्ग के नृत्य और संगीत आपके ही पास रहें।

व्याख्या : नचिकेता ने आत्मज्ञान की अपेक्षा सांसारिक सुखभोगों को तुच्छ घोषित कर दिया। भौतिक सुखभोग इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण कर देते हैं तथा उनसे शान्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त मनुष्य का जीवन अल्प और अनिश्चित है। अतएव जिस विवेकशील पुरुष के लिए सत्य साध्य है एवं प्राप्य है, उसके लिए ये भौतिक सुखभोग त्याज्य हैं। नचिकेता यमदेव से कह देता है कि उसे ये नश्वर भोग-पदार्थ प्रलुब्ध नहीं करते तथा इन्हें वह अपने पास ही रखे।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ २७॥

शब्दार्थ : मनुष्यः वित्तेन तर्पणीयः न = मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं हो सकता; **चेत्** = यदि,जब कि; **त्वा अद्राक्ष्म** =(हमने) आपके दर्शन पा लिये हैं; **वित्तम् लप्स्यामहे** = धन को (तो हम) पा ही लेंगे; **त्वम् यावद् ईशिष्यसि** =आप जब तक ईशन (शासन) करते रहेंगे, **जीविष्यामः** = हम जीवित ही रहेंगे; **मे वरणीयः वरः तु स एव** = मेरे माँगने के योग्य वर तो वह ही है।

वचनामृत : मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। जब कि (हमने) आपके दर्शन पा लिये हैं, धन तो हम पा ही लेंगे। आप जब तक शासन करते रहेंगे, हम जीवित भी रह सकेंगे। मेरे माँगने के योग्य वर तो वह ही है।

व्याख्या : नचिकेता ने एक परम सत्य का कथन किया है कि धन से मनुष्य की आत्यन्तिक तृप्ति नहीं हो सकती। उसने यमदेव को सम्मान देते हुए कहा—जब कि हमने आपके दर्शन प्राप्त कर लिए हैं, आपकी कृपा से धन तो हम पा ही लेंगे तथा आप जब तक शासन करते रहेंगे, हम भी तब तक जीवित रह सकेंगे। अतः धन और दीर्घायु की याचना करना व्यर्थ है।

कठोपनिषद् का पहला उपदेश नचिकेता के मुख से निस्सृत हुआ है। ''**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'' को कण्ठस्थ करके इसके सारतत्त्व को ग्रहण कर लेना चाहिए। मनुष्य की आत्यन्तिक तृप्ति कभी धन-सम्पत्ति से नहीं हो सकती। मनुष्य धन से सुख-सुविधा के साधनों को प्राप्तकर सकता है, किन्तु आन्तरिक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य के जीवन में धन बहुत कुछ है, किन्तु सब कुछ नहीं है।

इच्छाओं की तृप्ति भोग से नहीं होती, जैसे कि अग्नि की शान्ति घृत डालने से नहीं होती, बल्कि वह अधिक उद्दीप्त हो जाती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ (मनुस्मृति २.९४)
भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः (भर्तृहरि, वैराग्यशतक)
अर्थात् भोग कभी भुक्त नहीं होते, हम भी भुक्त हो जाते हैं।
'विषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना' (सुग्रीव की उक्ति)
'बुझै न काम अगनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते'

कामाग्नि का शमन विवेकपूर्ण सन्तोष से ही होना संभव होता है। '**बिनु संतोष न काम नसाही।**'

हूवर कमेटी द्वारा प्रस्तुत अमेरिका की अर्थसंबंधी युद्धोत्तर अन्वेषण रिपोर्ट

में परम्परागत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया कि एक इच्छा को शान्त करने पर वह अन्य इच्छा को जन्म दे देती है तथा इच्छाओं का क्रम कभी समाप्त नहीं होता।

"The survey has proved conclusively what has been long held theoretically to be true that wants are almost insatiable, that one want makes way for another." "Wants multiply."

महात्मा ईसा ने कहा था कि मनुष्य एक साथ ही भगवान् तथा धन को प्रेम नहीं कर सकता ("Ye cannot serve God and a mammon.") ऊँट के लिए सुई के छिद्र में से गुजरना धनिक द्वारा परमात्मा के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा सरल है। "For it is easier for a camel to go through a needle's eye than for a richman to enter into the kingdom of God." आध्यात्मिक साधक के मार्ग में धन की तृष्णा एवं धन का अभिमान बाधक हैं। उसे सादगी और संतोष से जीवन-यापन करना चाहिए।

धन की लिप्सा मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कर देती है। धन का प्रभाव धन के अभाव से अधिक दु:खदायक होता है। धन का लोभ मनुष्य को भटका-कर अशान्त बना देता है तथा धन की प्रचुरता मनुष्य को मदान्ध बना देती है। **कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय। वह खाये बौराय जग यह पाये बौराय (बिहारी)**। धन की प्रचुरता प्राय: मनुष्य को विलासिता, दुर्व्यसन, अपराध, हिंसा और अशान्ति की ओर ले जाती है।

वास्तव में धन में दोष नहीं है, धन की लिप्सा एवं आसक्ति में दोष होता है। मनुष्य धन के सदुपयोग से दीन दु:खी जन की सेवा आदि लोक-कल्याण के कार्य कर सकता है। अत: हमें त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। ईशावास्य उपनिषद् में इसी भाव को सूत्रात्मक रूप से कहा गया है—**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**। सन्त कबीर ने संतोषवृत्ति की प्रशंसा में कहा था—**साँईं इतना दीजिये, जामें कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा ना मरूँ साधु न भूखा जाय**। परिश्रम और सच्चाई से धन अर्जित करना, जो भी प्राप्त हो जाय उसमें सन्तोष करना तथा उसका सदुपयोग करना विवेकसम्मत है। **यदृच्छालाभसन्तुष्टो** (गीता, ४.२२)

यह एक तथ्य है कि मनुष्य सब कुछ यहीं एकत्रित करता है और सब कुछ यहीं छोड़कर सहसा चला जाता है। यदि सब कुछ छूटना है तो हम उसे स्वयं ही छोड़ दें अर्थात् उसके ममत्व, स्वामित्व और आसक्ति के भाव को छोड़कर भारमुक्त हो जाएँ। सब धन परमात्मा का ही है। अत: **'इदं न मम'**

(यह मेरा नहीं है।) की भावना को शिरोधार्य करके धन का उपभोग एवं सदुपयोग करना सब प्रकार से श्रेष्ठ है।

निश्चय ही आत्मज्ञान की अपेक्षा धन अत्यन्त तुच्छ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा—यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा—भोग-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन भी हो जाएगा। धन से अमृतत्व की तो आशा ही नहीं। '**अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन।**' मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमृता नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी ? मुझे तो अमृतत्व का साधन बतलाएं। '**येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् ? यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि।**' जीवन का उद्देश्य तो अमृतस्वरूप आत्मा को जानकर अमृतत्व प्राप्त करना है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर अमृतत्व की चर्चा है। जीवनकाल में आत्मतत्त्व को जानकर अमृतत्व प्राप्त करना ही उत्तम धन है। यही मानव की सर्वोच्च उपलब्धि भी है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ २८॥

शब्दार्थ : जीर्यन् मर्त्यः = जीर्ण होनेवाला मरणधर्मा मनुष्य; **अजीर्यताम् अमृतानाम्** = वयोहानिरूप जीर्णता को प्राप्त न होनेवाले अमृतों (देवताओं, महात्माओं) की सन्निधि में, निकटता में; **उपेत्य** = प्राप्त होकर, पहुँचकर; **प्रजानन्** = आत्मतत्त्व की महिमा का जाननेवाला अथवा उन (देवताओं, महात्माओं) से प्राप्त होनेवाले लाभ को जाननेवाला; **क्वधःस्थः** =क्वधः (कु=पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि से अधः, नीचे होने के कारण पृथ्वी क्वधः कहलाती है—शङ्कराचार्य) में स्थित क्वधःस्थ, नीचे पृथ्वी पर स्थित होकर; **कः** = कौन; **वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन्** = रूप, रति और भोगसुखों का ध्यान करता हुआ (अथवा उनकी व्यर्थता पर विचार करता हुआ); **अतिदीर्घे जीविते रमेत** = अतिदीर्घ काल तक जीवित रहने में रुचि लेगा। (इस श्लोक के अनेक अन्वय और अर्थ किए गए हैं।

वचनामृत : जीर्ण होनेवाला मरणधर्मा मनुष्य, जीर्णता को प्राप्त न होनेवाले देवताओं (अथवा महात्माओं) के समीप जाकर, आत्मविद्या से परिचित होकर, (अथवा महात्माओं से प्राप्त होनेवाले लाभ को सोचकर) पृथ्वी पर स्थित होनेवाला, कौन भौतिक भोगों का स्मरण करता हुआ (अथवा उनकी निरर्थकता को समझता हुआ) अतिदीर्घ जीवन में सुख मानेगा ?

व्याख्या : नचिकेता कुमारावस्था में ही बुद्धि की परिपक्वता एवं जिज्ञासा

की गहनता का परिचय देता है। वह यमदेव से कहता है कि जीर्ण हो जाने-वाला तथा मृत्यु को प्राप्त होनेवाला, मृत्युलोक में रहनेवाला, कौन मनुष्य जीर्ण न होनेवाले अमृतस्वरूप महात्माओं का संग पाकर भी भौतिक भोगों का चिन्तन करते हुए दीर्घकाल तक जीवित रहने में रुचि लेगा ? यमराज जैसे महात्मा का सान्निध्य पाकर भी भोगों का चिन्तन करने की मूर्खता कौन विवेकशील मनुष्य करेगा ? मृत्युलोक में रहनेवाले मरणधर्मा मनुष्य के लिए यमराज के सान्निध्य में आकर आत्मज्ञान की प्राप्ति से बढकर अन्य कौनसा सौभाग्य हो सकता है ? नचिकेता ने आत्मज्ञान के लिए आवश्यक वैराग्यभाव को प्रदर्शित करके स्वयं को उपदेश का सच्चा अधिकारी सिद्ध कर दिया। यह प्रसिद्ध ही है कि विषय-वासना और भौतिक वस्तुओं की तृष्णा से ग्रस्त मनुष्य आत्मज्ञान की साधना नहीं कर सकता। नचिकेता सत्य का गंभीर अनुसंधाता है तथा संसार के सुखभोगों को तुच्छ समझकर उनका परित्याग करने पर दृढ है। वह मात्र दीर्घजीवी नहीं, दिव्यजीवी होना चाहता है।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ २९॥

शब्दार्थ : मृत्यो = हे यमराज; **यस्मिन् इदम् विचिकित्सन्ति** = जिस विषय में यह विचिकित्सा (सन्देह, विवाद) होती है; **यत् महति साम्पराये** = जो महान् परलोक-विज्ञान में है; **तत्** = उसे; **नः ब्रूहि** = हमें बता दो; **यः अयम् गूढम् अनुप्रविष्टः वरः** = जो यह वर (अब) गूढ रहस्यमयता को प्रवेश कर गया है (अधिक रहस्यपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण हो गया है); **तस्मात् अन्यम्** = इससे अतिरिक्त अन्य (वर) को; **नचिकेता न वृणीते** = नचिकेता नहीं माँगता।

(इस श्लोक के भी अनेक अन्वय और अर्थ किए गए हैं।)

वचनामृत : हे यमराज, जिस विषय में सन्देह होता है, जो महान् परलोक-विज्ञान में है, उसे हमें कहो। जो यह (तृतीय) वर है, (अब) गूढ रहस्यमयता में प्रवेश कर गया है (अधिक रहस्यपूर्ण हो गया है)। उसके अतिरिक्त अन्य (वर को) नचिकेता नहीं माँगता।

व्याख्या : नचिकेता अपने निश्चय पर दृढ है तथा कोई प्रलोभन उसे विचलित नहीं कर सकता। यमराज जैसे उपदेष्टा के सान्निध्य का स्वर्णिम अवसर प्राप्त करके वह उसे खोना नहीं चाहता। यमराज ने जितने भी प्रलोभन प्रस्तुत किए, नचिकेता ने उन सबको तुच्छ एवं हेय कह दिया। आत्मतत्त्व के ज्ञान से बढकर अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। नचिकेता का तृतीय वर गूढ है और गंभीर विवेचना की अपेक्षा करता है।

प्रथम अध्याय

द्वितीय वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ १॥

शब्दार्थ : श्रेयः = कल्याण का साधन; **अन्यत्** = अलग है, दूसरा है; **उत** = तथा; **प्रेयः** = प्रिय प्रतीत होनेवाले भोगों का साधन; **अन्यत् एव** = अलग ही है, दूसरा ही है; **ते उभे** = वे दोनों; **नाना अर्थे** = भिन्न अर्थों में, भिन्न प्रयोजनों में; **पुरुषम्** = पुरुष को; **सिनीतः** = बाँधते हैं, अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; **तयोः** = उन दोनों में; **श्रेयः** = कल्याण के साधन को; **आददानस्य** = ग्रहण करनेवाले पुरुष का; **साधु भवति** = कल्याण (शुभ) होता है; **उ यः** = और जो; **प्रेयः वृणीते** = प्रेय को स्वीकार करता है; **अर्थात्** = अर्थ से, यथार्थ से; **हीयते** =भ्रष्ट हो जाता है।

वचनामृत : श्रेयस् अन्य है, प्रेयस् अन्य है। ये दोनों पुरुष को भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से आकर्षित करते हैं। उनमें श्रेयस् को ग्रहण करनेवाले पुरुष का कल्याण होता है और जो प्रेयस् का वरण करता है, वह यथार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

सन्दर्भ : मन्त्र १ तथा २ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यहां से ब्रह्मविद्या के उपदेश का प्रारंभ हो रहा है।

दिव्यामृत : संसार में मनुष्य के लिए दो ही मार्ग हैं—एक श्रेयमार्ग, दूसरा प्रेयमार्ग। श्रेयमार्ग मनुष्य के लिए सब प्रकार से कल्याणकारी सिद्ध होता है तथा प्रेयमार्ग मनुष्य को संसार में भटकाकर उसे जीवन के मूल उद्देश्य से ही हटा देता है। श्रेयमार्ग आत्मकल्याण का मार्ग है तथा मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति की ओर उन्मुख कर देता है। प्रेयमार्ग सांसारिक सुखभोग का मार्ग है तथा अन्त में वह मनुष्य के सुख-शान्ति को विनष्ट कर देता है। ये दोनों ही मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। मनुष्य अपने मार्ग का चयन करने और उसका अनुसरण करने में स्वतन्त्र है।

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में इस उपनिषद् की भूमिका है तथा यमदेव आचार्य के रूप में नचिकेता की परीक्षा लेकर आश्वस्त हो जाते हैं कि वह आत्मज्ञान-प्राप्ति का सुपात्र है। नचिकेता कर्मकाण्ड (यज्ञ आदि)

की सीमा को जानता है तथा वह असीम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सन्नद्ध है। यमाचार्य स्वयं भी कर्मकाण्ड को आध्यात्मिक ज्ञान की अपेक्षा तुच्छ मानते हैं। इस दूसरी वल्ली से ज्ञानोपदेश का प्रारंभ होता है। ब्रह्मविद्या का उपदेश उत्तम अधिकारी को ही दिया जा सकता है, अनधिकारी को कदापि नहीं।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ २॥

शब्दार्थ : श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एतः = श्रेय और प्रेय मनुष्य को प्राप्त होते हैं, मनुष्य के सामने आते हैं; **धीरः** = श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष; **तौ** = उन पर; **सम्परीत्य** = भली प्रकार विचार करके; **विविनक्ति** = छानबीन करता है, पृथक्-पृथक् समझता है; **धीरः** = श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष; **प्रेयसः** = प्रेय की अपेक्षा; **श्रेयः हि अभिवृणीते** = श्रेय को ही ग्रहण करता है, श्रेय का ही वरण करता है; **मन्दः** = मन्द मनुष्य; **योगक्षेमात्** = सांसारिक योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) से; **प्रेयः वृणीते** = प्रेय का वरण करता है।

वचनामृत : श्रेय और प्रेय (दोनों) मनुष्य को प्राप्त होते हैं। श्रेष्ठबुद्धिसम्पन्न पुरुष विचार करके उन्हें पृथक्-पृथक् समझता है। श्रेष्ठबुद्धिवाला मनुष्य प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही ग्रहण करता है। मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेम (की इच्छा) से प्रेय का ग्रहण करता है।

सन्दर्भ : इस मंत्र को कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। उपनिषदों तथा भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर धीरपुरुष (विवेकशील पुरुष) की प्रशंसा की गयी है। धीर को ज्ञानी एवं विद्वान् भी कहा गया है।

दिव्यामृत : संसार में मनुष्य के सामने जीवन के दो मार्ग होते हैं—श्रेय तथा प्रेय। श्रेय मनुष्य के विकास का मार्ग है तथा प्रेय ह्रास का मार्ग है। श्रेय से दूरगामी, स्थायी, सकारात्मक एवं सारमय फल प्राप्त होते हैं तथा प्रेय से तत्काल कुछ क्षणिक, लौकिक सुख प्राप्त होते हैं। श्रेयमार्ग मनुष्य को शारीरिक सुखों एवं इन्द्रिय-सुखों के आकर्षण से दूर हटाकर तथा आत्मा की ओर उन्मुख कर, उसे जीवन के उच्चतर स्तर पर स्थित कर देता है। श्रेयमार्ग मनुष्य को इन्द्रियों की दासता से ऊपर उठा देता है तथा जीवन को प्रकाशमय बना देता है। प्रेयमार्ग मनुष्य को भौतिक सुखभोगों में निमग्न कर उसे अन्तहीन अन्धकार में धकेल देता है। मन्द, अदूरदर्शी मनुष्य भौतिक सुखभोग के साधनों को प्राप्त करने (योग) तथा उनकी सुरक्षा करने (क्षेम) में चिन्तित एवं व्यग्र रहता है। विवेकशील पुरुष श्रेय का तथा मन्द पुरुष प्रेय का वरण करते हैं। मनुष्य अपने मार्ग का चयन करने में स्वतंत्र होता है। मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता होता है।

मनुष्य को संसार के विषय-सागर को कुशलतापूर्वक पार करके ही परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान् पुरुष विवेक द्वारा इसे पार कर लेता है, किन्तु मन्दबुद्धि इसमें डूबकर विनष्ट हो जाता है। बुद्धिमान् पुरुष अविद्या के क्षेत्र में विवेक द्वारा भोगादि की तृप्ति करके, विद्या के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर आत्यन्तिक तृप्ति करता है, अर्थात् विषयसुख से निवृत्त होकर परमानन्द-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य को गंभीरतापूर्वक श्रेय तथा प्रेय मार्ग पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन करके श्रेय का वरण तथा प्रेय का त्याग करना चाहिए। जैसे हंस नीर-क्षीर विवेक में निपुण होता है तथा नीर को त्यागकर क्षीर (दुग्ध) को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार धीर पुरुष प्रेय को त्यागकर श्रेय का वरण कर लेता है।

(इस मंत्र का गूढार्थ समझने के लिए भगवद्गीता के अध्याय २ के श्लोक ६४, ६५ तथा अध्याय ३ के श्लोक ६, ७ को देखना चाहिए। योगक्षेम की चर्चा गीता-९.२२ तथा तैत्ति० उप०-३.१० में भी है।)

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ ३॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **स त्वम्** = वह तुम हो; **प्रियान् च प्रियरूपान् कामान्** = प्रिय (प्रतीत होनेवाले) और प्रिय रूपवाले भोगों को; **अभिध्यायन्** = सोच-समझकर; **अत्यस्राक्षीः** = छोड़ दिया; **एताम् वित्तमयीम् सृङ्काम्** = इस धनसम्पत्तिस्वरूप सृङ्का (रत्नमाला एवं बन्धन अथवा मार्ग) को; **न अवाप्तः** = प्राप्त नहीं किया; **यस्याम्** = जिसमें; **बहवः मनुष्याः मज्जन्ति** = बहुत लोग फँस जाते हैं, मुग्ध हो जाते हैं। (सृङ्का के अन्य अर्थ मार्ग तथा बन्धन हैं। सृङ्का अर्थात् रत्नमाला, धन-लोभ का मार्ग, धन का बन्धन।)

वचनामृत : वह तू है (ऐसे तुम हो कि) प्रिय प्रतीत होनेवाले और प्रिय रूपवाले (समस्त) भोगों को सोच-समझकर (तुमने) छोड़ दिया, इस बहुमूल्य रत्नमाला को भी स्वीकार नहीं किया जिसमें (जिसके प्रलोभन में) अधिकांश लोग फँस जाते हैं।

सन्दर्भ : गुरु यमाचार्य उपदेश-ग्रहण की पात्रता के परीक्षण में नचिकेता को पूर्णतः उत्तीर्ण देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं।

दिव्यामृत : शिक्षण-कार्य में कुशल गुरु शिष्य की उपदेश-ग्रहण की पात्रता की परीक्षा लेते हैं तथा उसे उत्तम विद्या का अधिकारी देखकर उसका प्रोत्साहन करते हैं। यमाचार्य नचिकेता से कहते हैं—नचिकेता, तुम धन्य हो। मैंने परीक्षा करके स्वयं को सन्तुष्ट कर लिया है कि तुम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के

लिए सच्चे अधिकारी हो। तुम वैराग्य और विवेक से संपन्न हो। विवेकशील व्यक्ति दूरदर्शी होता है तथा वह क्षणिक सुखभोग के प्रलोभन में नहीं फँसता। तुमने तो बहुमूल्य रत्नमाला के उपहार को (एवं धन के बन्धन को) तुच्छ मानकर तिरस्कृत कर दिया। सांसारिक सुखभोगों में लिप्त होनेवाला व्यक्ति भले और बुरे का विवेचन नहीं करता तथा येनकेन प्रकारेण सुखभोगों के साधनरूप धन को संगृहीत करने में जुटा रहता है। धनसंचय के लिए वह कुमार्ग का अनुसरण करने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करता। प्रारंभ में अन्तरात्मा की ध्वनि उसे कुमार्गगामी होने से रोकती है, किन्तु वह पुनः पुनः उसकी उपेक्षा कर देता है और उसकी अनसुनी कर देता है तथा वह मन्द हो जाती है जैसे अग्नि राख के ढेर से दबने पर तेज खो देती है। नचिकेता ने स्वयं को परमात्मतत्त्व के श्रवण और ग्रहण करने के लिए सुयोग्य अधिकारी प्रमाणित करके गुरु यमाचार्य को सन्तुष्ट कर दिया।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥ ४॥

शब्दार्थ : या अविद्या = जो अविद्या; **च विद्या इति ज्ञाता** = और विद्या नाम से ज्ञात है; **एते** = ये दोनों; **दूरम् विपरीते** = अत्यन्त विपरीत (हैं); **विषूची** = भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं, **नचिकेतसम् विद्या अभीप्सितम् मन्ये** = (मैं) नचिकेता को विद्या की अभीप्सा (अभिलाषा) वाला मानता हूँ; **त्वा** = तुम्हें; **बहवः कामाः न अलोलुपन्त** = बहुत से भोग लोलुप (लुब्ध) न कर सके।

वचनामृत : जो अविद्या और विद्या नाम से विख्यात हैं, ये (परस्पर) अत्यन्त विपरीत हैं। (ये) भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं। मैं तुम नचिकेता को विद्या का अभिलाषी मानता हूँ, तुम्हें बहुत से भोगों ने प्रलुब्ध नहीं किया।

सन्दर्भ : यमाचार्य नचिकेता के परीक्षा-परिणाम से प्रसन्न हैं।

दिव्यामृत : विद्या श्रेयमार्ग और अविद्या प्रेयमार्ग है तथा दोनों मार्ग परस्पर विरुद्ध तथा भिन्न-भिन्न फल देनेवाले हैं। गुरु यमाचार्य पात्र-परीक्षा में नचिकेता को धनादि के प्रलोभन से मुक्त और ज्ञानप्राप्ति के लिए आस्था में अविचल पाकर सन्तुष्ट हो गये। नचिकेता ने स्वयं को सर्वोच्च अध्यात्मविद्या के अधिकारी के रूप में प्रमाणित कर दिया। आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ होनेवाला विवेकशील पुरुष सावधान रहता है तथा प्रचुर भोगसामग्री को देखकर भी विचलित नहीं होता, भटकता नहीं है। वह लक्ष्य पर अपनी दृष्टि को स्थिर रखता है। संसार की भौतिक सामग्री का उचित उपभोग करते हुए लक्ष्य की ओर बढते रहना विवेक है तथा उसके प्रलोभन में फँसकर अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की

सुरक्षा अर्थात् उसके योगक्षेम में व्यग्र और व्यस्त रहना और सांसारिक चिन्ता, भय एवं क्लेश में ही जीवन का क्षय कर देना अविवेक है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५॥

शब्दार्थ : अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानः = अविद्या के भीतर ही रहते हुए; **स्वयं धीराः पण्डितम् मन्यमानाः** = स्वयं को धीर और पण्डित माननेवाले; **मूढ़ाः** = मूढ जन; **दन्द्रम्यमाणाः** = टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलते हुए, ठोकरें खाते हुए, भटकते हुए; **परियन्ति** = घूमते रहते हैं, स्थिर नहीं होते; **यथा**— जैसे, **अन्धेन एव नीयमानाः अन्धाः** = अन्धे से ले जाए हुए अन्धे मनुष्य।

वचनामृत : अविद्या के भीतर ही रहते हुए, स्वयं को धीर, पण्डित माननेवाले मूढजन, भटकते हुए चक्रवत् घूमते रहते हैं, जैसे अन्धे से ले जाते हुए अन्धे।

सन्दर्भ : अविद्या में फँसे हुए मनुष्य अधोगति को प्राप्त होते हैं। यह मंत्र मुण्डक उपनिषद् (१.२.८) में भी है।

दिव्यामृत : विद्या का अर्थ आध्यात्मिक प्रकाश को उत्पन्न करनेवाला उत्तम ज्ञान है तथा अविद्या का अर्थ अन्धकार उत्पन्न करनेवाला निकृष्ट ज्ञान है। आध्यात्मिक दृष्टि से मात्र भौतिक उन्नति एवं भौतिक सुखभोग-संबंधी ज्ञान विद्या नहीं होता, वह निकृष्ट स्तर का ज्ञान होता है। विद्या मनुष्य को भौतिक बन्धन (आकर्षण) से मुक्त करा देती है। बुद्धिमान् पुरुष अविद्या से विद्या की ओर चला जाता है। श्रेयमार्ग विद्या का मार्ग है तथा प्रेयमार्ग अविद्या का मार्ग है। भौतिक सुखभोग को ही जीवन का उद्देश्य माननेवाले भौतिकतावादी (भोगवादी) मनुष्य की शक्तियों का क्षय हो जाता है और उसके जीवन का सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है।[१] वह जीवन में उच्च स्तरों के लाभ से वंचित रहता है और पशु-स्तर पर भोगरत रहने के कारण उसका आन्तरिक विकास नहीं होता। भोगों की इच्छा मनुष्य को भटकाकर अन्त में उसकी दुर्गति कर देती है। इन्द्रिय-सुखों की दासता निकृष्ट बन्धन होती है। जिस प्रकार एक अन्धे के निर्देश पर चलनेवाले अन्धे

---

१. प्रख्यात वैज्ञानिक आर०ए० मिलकन ने भौतिक सुखभोग पर केन्द्रित भौतिकवादी जीवन-दर्शन को बुद्धि की मन्दता का शिखर कहा है तथा डार्विन के सहयोगी एवं महान् चिन्तक टी०एच० हक्सले ने भी भौतिकता की निन्दा की है। स्वयं डार्विन ने जीवन के अन्त में मात्र भौतिकवाद के अनुसरण को जीवन-सौन्दर्य के अनुभव से वंचित रहना कहा है।

व्यक्ति भटकते हुए ठोकर खाते रहते हैं और लक्ष्य को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार भोगों का अनुसरण करनेवाले मनुष्य भी जीवन के उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। अंधौ अंधा ठेलिया दोनों कूप पड़न्त।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ ६॥

शब्दार्थ : **वित्तमोहेन मूढम्** = धन के मोह से मोहित; **प्रमाद्यन्तम् बालम्** = प्रमाद करनेवाले अज्ञानी को; **साम्परायः** = परलोक, लोकोत्तर-अवस्था, मुक्ति; **न प्रतिभाति** = नहीं सूझता; **अयं लोकः** = यह लोक (ही सत्य है); पर **न अस्ति** = इससे परे (कुछ) नहीं है; **इति मानी** = ऐसा माननेवाला, अभिमानी व्यक्ति; **पुनः पुनः** = बार-बार; **मे वशम्** = मेरे वश में; **आपद्यते** = आ जाता है।

वचनामृत : धन-सम्पत्ति से मोहित, प्रमादग्रस्त अज्ञानी को परलोक (अथवा लोकोत्तर-अवस्था) नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक (ही सत्य) है, इससे परे (अतिरिक्त) कुछ नहीं है, ऐसा माननेवाला अभिमानी मनुष्य पुनः पुनः मेरे (यमराज के) वश में आ जाता है।

सन्दर्भ : भोगासक्त व्यक्ति दूरदर्शी नहीं होता।

दिव्यामृत : संसार के प्रपंच में फँसा हुआ मनुष्य समझता है कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सब कुछ है तथा इससे परे कहीं कुछ नहीं है। धन के मोह से मोहित अज्ञानी मनुष्य की दूरदृष्टि नहीं होती। वह प्रमाद (गंभीर चिन्तन, स्वाध्याय तथा यम-नियम आदि का पालन न करना) के कारण इस जगत्प्रपंच में ऐसा फँसा रहता है कि उसे इससे परे कुछ नहीं सूझता। वह सोचता है कि यह संसार ही सत्य है और इसके सुखभोगों से बढकर कुछ भी नहीं है। ऐसा माननेवाला मनुष्य अभिमानग्रस्त होता है तथा किसीके ज्ञानमय उपदेश को नहीं सुनता।

वास्तव में मनुष्य को आध्यात्मिक प्रबोध होने पर लोकोत्तर-अवस्था की प्राप्ति अपने भीतर ही हो जाती है। मानव की चेतना के अनेक स्तर होते हैं तथा चेतना के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार की उच्चावस्थाओं की अनुभूति हो जाती है। सारा संसार सूक्ष्मरूप से अपने भीतर ही है।[१] मनुष्य का आत्मा चिदंश अथवा परमात्मा का ही अंश होता है। विमूढ व्यक्ति भोगासक्त रहकर चेतना के उच्च स्तरों के अलौकिक आनन्द से वंचित

---

१. **चित्तमेव हि संसारः तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।** (मैत्रेयी उप०)
—चित्त ही संसार है, उसका शोधन प्रयत्न से करना चाहिए।

रह जाता है। वह पशुओं की भाँति निम्नस्तरीय भोगों में रत रहकर जीवन के सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाता। मनुष्य के भीतर भी वह सब कुछ है, जो समस्त बहिर्जगत् में है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

शब्दार्थ : यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः = जो (आत्मतत्त्व) बहुतों को सुनने के लिए भी नहीं मिलता; **यम् बहवः शृण्वन्तः अपि न विद्युः** = जिसे बहुत से मनुष्य सुनकर भी नहीं समझ पाते; **अस्य वक्ता** = इसका वक्ता; **आश्चर्य** = आश्चर्यमय (है)। **लब्धा कुशलः** = (इसका) ग्रहण करनेवाला कुशल (परम बुद्धिमान्); **कुशलानुशिष्टः** = कुशल (जिसे उपलब्धि हो गई है) से अनुशिष्ट (शिक्षित); **ज्ञाता** = (आत्मतत्त्व का) जाननेवाला; **आश्चर्यः** = आश्चर्यमय (है)।

वचनामृत : जो (आत्मतत्त्व) बहुत से मनुष्यों को सुनने के लिए भी नहीं मिलता, जिसे बहुत से मनुष्य सुनकर भी नहीं समझ पाते, इसका कहनेवाला आश्चर्यमय है, ग्रहण करनेवाला परम बुद्धिमान् है, उससे शिक्षित ज्ञाता पुरुष आश्चर्यमय है।

सन्दर्भ : आत्मतत्त्व की गूढता का निरूपण किया गया है।

दिव्यामृत : आत्मतत्त्व अत्यन्त गूढ एवं आश्चर्यप्रद है।[१] इसको सुनने में भी रुचि लेनेवाले दुर्लभ होते हैं। प्रायः सभी मनुष्य जगत्प्रपंच में फँसे हुए रहते हैं तथा आत्मकल्याण की चर्चा के लिए उनमें न रुचि होती है और न इसके लिए अवकाश (फुर्सत) ही होता है। आत्मतत्त्व का विषय इतना गंभीर है कि प्रायः मनुष्य उसके विवेचन को सुनकर भी उसे नहीं समझ पाते। इस गूढ आत्मतत्त्व का वक्ता महापुरुष आश्चर्यमय होता है। उसकी जीवनशैली असामान्य होती है। मनुष्य उसे देखकर आश्चर्य करते हैं। आत्मतत्त्व के विवेचन को समझने और ग्रहण करनेवाला मनुष्य भी एक दुर्लभ महापुरुष होता है। ऐसे ज्ञानमार्गी धीर (परम बुद्धिमान्) होते हैं।

आत्मतत्त्व को उपलब्ध करनेवाले किसी महाज्ञानी को गुरु मानकर उसकी

---

१. **आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।**
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता, २.२९)
— कोई आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई अन्य आश्चर्य से कहता है, कोई आश्चर्यचकित होकर सुनता है और इसे सुनकर भी कोई समझता नहीं है।

कृपा से आत्मतत्त्व का ग्रहण करनेवाला पुरुष भी आश्चर्यमय ही होता है।[१] गूढ आत्मतत्त्व का समर्थ वक्ता और जिज्ञासु श्रोता तो दुर्लभ होते ही हैं, आत्मज्ञान से मण्डित आत्मदर्शी एवं अनुभवी ज्ञानी गुरु और ज्ञानी शिष्य भी दुर्लभ होते हैं। ये सभी श्रेष्ठ महापुरुष आश्चर्यमय एवं दुर्लभ होते हैं।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥ ८॥

शब्दार्थ : अवरेण नरेण प्रोक्तः = अवर (अल्पज्ञ, तुच्छ) मनुष्य से कहे जाने पर; **बहुधा चिन्त्यमानः** = बहुत प्रकार से चिन्तन किए जाने पर (भी); **एष** = यह आत्मा, यह आत्मतत्त्व; **न सुविज्ञेयः** = सुविज्ञेय (भली प्रकार से जानने के योग्य) नहीं है; **अनन्यप्रोक्ते** = किसी अन्य आत्मज्ञानी के द्वारा न बताये जाने पर; **अत्र** = यहाँ, इस विषय में; **गतिः न अस्ति** = पहुँच नहीं है; **हि** = क्योंकि, **अणुप्रमाणात्** = अणु के प्रमाण से भी; **अणीयान्** = छोटा अर्थात् अधिक सूक्ष्म; **अतर्क्यम्** = तर्क या कल्पना से भी परे।

वचनामृत : तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्य से कहे जाने पर, बहुत प्रकार से चिन्तन करने पर भी, यह आत्मतत्त्व समझ में नहीं आता। किसी अन्य ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर इस विषय में प्रवेश नहीं होता, क्योंकि यह (विषय) अणुप्रमाण (सूक्ष्म) से भी अधिक सूक्ष्म है, तर्क से परे है।

सन्दर्भ : इस मंत्र में आत्मतत्त्व की गूढता कही गई है।
(इस मंत्र के अनेक अन्वय और अर्थ किए गए हैं)।

दिव्यामृत : एक सामान्य बुद्धिवाले मनुष्य से बहुत समझाये जाने पर भी आत्मतत्त्व गूढता के कारण समझ में नहीं आ सकता, भले ही इस पर बहुत

---

१. **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गीता, ७.३)
—सहस्रों में कोई एक सिद्धता के लिए यत्न करता है, यत्न करनेवाले सिद्धों में भी कोई एक परमात्मा को ठीक प्रकार से जान पाता है।
नर सहस्त्र महुँ सुनहु पुरारी, कोउ एक होइ धर्मब्रतधारी।
धर्मसील कोटिक महँ कोई, बिषय बिमुख बिराग रत होई।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई, सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ, जीवनमुक्त सकृत-जग सोऊ।
तिन्ह सहस्त्र महुँ सब सुख खानी, दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

प्रकार से चिन्तन भी कर लिया जाए। जब तक इसे किसी ऐसे ज्ञानी पुरुष से न समझाया जाए, जो इसे भली प्रकार से जान चुका है और स्वयं इसका अनुभव कर चुका है, इसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि यह सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म है तथा तर्क से परे है।

आत्मतत्त्व दुर्विज्ञेय और दुरूह है। यह समस्त सूक्ष्म तत्त्वों से भी अधिक सूक्ष्म है। प्रखर बुद्धिवाला मनुष्य भी इसे बुद्धि द्वारा समझ नहीं सकता। आत्मतत्त्व बुद्धि एवं इन्द्रियों का विषय नहीं है तथा गहन आन्तरिक अनुभूति का विषय है।

मनुष्य की बुद्धि और उसकी तर्कशक्ति की एक सीमा होती है। मनुष्य किसी सूक्ष्मतत्त्व को बुद्धि द्वारा नहीं समझ सकता। परमात्मा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। मात्र बुद्धि का अवलम्बन लेकर मनुष्य ब्रह्मज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर सकता। आत्मानुभूतिसंपन्न महापुरुष ही एक सच्चे जिज्ञासु एवं श्रद्धालु अधिकारी (सत्पात्र) को इसका ग्रहण करा सकता है तथा उसका मार्ग-निर्देशन कर सकता है। ज्ञानी महात्मा परमात्मा तथा अपने आत्मा की एकता की अनुभूति करके परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है और तर्कपूर्ण शब्दों को पीछे छोड़ देता है। आत्मसाक्षात्कार का स्वानुभव न होने पर मनुष्य आत्मतत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। यथार्थज्ञानसंपन्न महात्मा ही अधिकारी पुरुष को यथार्थज्ञान का सम्यक् ग्रहण करा सकता है। आत्मा अनुभवगम्य है तथा आत्मदर्शी महापुरुष एक साधनसम्पन्न सुयोग्य व्यक्ति को आत्मप्रकाश का अनुभव सहज ही सुलभ कर देता है। आत्मदर्शी तत्त्वज्ञानी ही प्रवचन करने में समर्थ होता है, कोई अन्य साधारण व्यक्ति, नहीं।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृक् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ : प्रेष्ठ = हे परमप्रिय; **एषा मतिः याम् त्वम् आपः** = यह मति, जिसे तुमने प्राप्त किया है; **तर्केण न आपनेया** = तर्क से प्राप्त नहीं होती; **अन्येन प्रोक्ता एव सुज्ञानाय** = अन्य के द्वारा कहे जाने पर सुज्ञान (भली प्रकार ज्ञानप्राप्ति) के लिए; **(भवति** = होती है **)**; **बत** = वास्तव में ही; **नचिकेतः सत्यधृति असि** = नचिकेता, तुम सत्यधृति (श्रेष्ठ धैर्यवाला, सत्य में निष्ठावाला) हो; **त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्** = तुम्हारे जैसे प्रश्न पूछनेवाले हमें मिलें।

वचनामृत : हे परमप्रिय, यह बुद्धि, जिसे तुमने प्राप्त किया है, तर्क से प्राप्त नहीं होती। अन्य (विद्वान्) के द्वारा कहे जाने पर भली प्रकार समझ में आ सकती है। वास्तव में, नचिकेता, तुम सत्यनिष्ठ हो (अथवा सच्चे निश्चयवाले हो)। तुम्हारे सदृश जिज्ञासु हमें मिला करें।

सन्दर्भ : आत्मज्ञान बुद्धि की तर्कपूर्ण युक्तियों से प्राप्त नहीं होता। **'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** को कण्ठस्थ कर लें।

दिव्यामृत : यमाचार्य कहते हैं कि मात्र तर्क करते रहने से ऐसी निर्मल बुद्धि प्राप्त नहीं होती, जो वैराग्यपूर्ण हो तथा धन-सम्पत्ति एवं सांसारिक वैभव के प्रलो-भन से विचलित न हो। निर्मल बुद्धि मनुष्य को ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी बना देती है। सांसारिक सुखभोग के आकर्षण एवं मोह में फँसी हुई बुद्धि में एकाग्रता एवं दृढता नहीं होती। आध्यात्मिक ज्ञान अत्यन्त गूढ अर्थात् रहस्यपूर्ण होता है तथा सत्यनिष्ठ मनुष्य उच्चस्तरीय चेतना में स्थित होकर ही इसे प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। विशुद्ध बुद्धि इसके लिए अपेक्षित आवश्यकता होती है।

मात्र तर्क द्वारा आत्मतत्त्व को नहीं समझा जा सकता है। तर्क की एक सीमा होती है तथा परमात्मा तर्कातीत (तर्क से परे) है। परमात्मा अतर्क्य है।[१] वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा तर्कपूर्ण युक्तियों से न उसके अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है, न उसका ग्रहण ही किया जा सकता है। तर्क अप्रतिष्ठ होता है अर्थात् मात्र तर्क से तत्त्व की प्रस्थापना करना संभव नहीं है।[२]

प्राय: तर्क में शब्दों की भरमार होती है तथा केवल तर्क का आधार जिज्ञासु को तत्त्व के ग्रहण से दूर कर देता है।[३] परमात्म-तत्त्व तर्कों से परे है।

वह अनुभव और आन्तरिक अनुभूति से सहज सुलभ है। अनुमान और तर्क प्रमाण के साधारण साधन हैं। आन्तरिक अनुभूति श्रेष्ठ प्रमाण होती है। गहन आन्तरिक अनुभूति को शिरोधार्य करना चाहिए।[४]

वास्तव में उचित तर्क ही मनुष्य को तर्कातीत अवस्था की ओर ले जाता है और अनुभव-प्रमाण की सर्वोच्चता को सिद्ध कर देता है। सूक्ष्मबुद्धि अथवा सूक्ष्म दृष्टि होने पर ही सूक्ष्म तत्त्व का अनुभव होना संभव होता है।[५]

---

१. **राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी, मत हमार अस सुनहु सयानी।**

२. **तर्कोऽप्रतिष्ठः।**

३. **शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।**
अतः प्रयत्नात् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥ (विवेकचूडामणि ६२)
—शङ्कराचार्य कहते हैं कि ग्रन्थों का शब्दजाल चित्त को भटकानेवाला घना जंगल होता है। अतः मनुष्य को सबसे दूर हटकर आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

४. कार्ल जुंग कहता है कि हमें आन्तरिक अनुभूति के महत्त्व को स्वीकार करना चाहिए। कान्ट को Critique of Pure Reason के बाद Critique of Practical Reason लिखना पड़ा।

५. **सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।** (कठ०, १.३.१२)

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोमग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १०॥

शब्दार्थ : अहं जानामि = मैं जानता हूँ; **शेवधिः** = धननिधि, कर्मफलरूप प्राप्त निधि; **अनित्यम् इति** = अनित्य है; **हि अध्रुवैः** = क्योंकि अध्रुव (विनाशशील) वस्तुओं से; **तत् ध्रुवम्** = वह नित्य तत्त्व; **हि न प्राप्यते** = निश्चय ही प्राप्त नहीं हो सकता; **ततः** = अतएव, तथापि; **मया** = मेरे द्वारा; **अनित्यैः द्रव्यैः** = अनित्य पदार्थों से; **नाचिकेतः अग्निः चितः** =नाचिकेतनामक अग्नि का चयन किया गया; (और उसके द्वारा) **नित्यम् प्राप्तवान् अस्मि** = मैं नित्य को प्राप्त हो गया हूँ।

वचनामृत : मैं जानता हूँ कि धन अनित्य है। निश्चय ही अनित्य वस्तुओं से नित्य वस्तु को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तथापि मेरे द्वारा अनित्य पदार्थों के द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया और (उसके द्वारा) मैं नित्यपद को प्राप्त हो गया हूँ।

सन्दर्भ : इस मंत्र के अनेक अर्थ किये गये हैं। मैक्समूलर और ह्यूम आदि ने तो इसे नचिकेता की उक्ति कह दिया, जो अत्यन्त भ्रान्त है। '**नित्यम् प्राप्तवान् अस्मि**' का अर्थ यह भी किया गया—मैंने मनुष्यपद की अपेक्षा अधिक नित्य देवत्वपद को प्राप्त कर लिया। **यह उक्ति यमाचार्य की ही है।**

दिव्यामृत : विनाशशील वस्तुओं तथा धन के आकर्षण एवं मोह में फँसकर मनुष्य नित्य तत्त्व परमात्मा की प्राप्ति से विमुख हो जाता है। दान आदि पुण्यकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त सुख भी क्षणिक अथवा नश्वर ही होते हैं। उनसे भी आत्मसाक्षात्कार का लाभ संभव नहीं होता। यज्ञादि के फल भी अनित्य, अस्थायी होते हैं।

कर्म के दो अर्थ होते हैं—साधारण कर्म तथा यज्ञ आदि कर्मकाण्ड। कर्तव्य-कर्म और कर्मकाण्ड का उद्देश्य चित्तशुद्धि होता है। चित्तशुद्धि होने पर, बुद्धि के निर्मल होने पर, अपने भीतर ही परमात्मा का दर्शन हो जाता है, जैसे मेघ हटने पर सूर्य का दर्शन हो जाता है। परमात्मा तो हमारे भीतर ही निरन्तर प्रकाशमान है, किन्तु अहंकार, कामना आदि दोषों के दूर होने पर अर्थात् चित्तशुद्धि होने पर परमात्मा का दर्शन एवं उसकी अनुभूति हो जाते हैं। इस प्रकार निष्काम भाव से किये हुए कर्म एवं कर्मकाण्ड भगवत्प्राप्ति के साधन हो जाते है।[1]

---

१. **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** (गीता, ३.२०)—जनक आदि ने निष्काम कर्म के माध्यम से ही सिद्धता प्राप्त की।

यमराज ने नश्वर पदार्थों से नाचिकेत अग्नि के चयन और यज्ञादि किए किन्तु कर्तव्यभावना से तथा निष्काम (अनासक्त) होकर किए। परिणामत: यमराज ने परमात्मा को प्राप्त कर लिया। मनुष्य निष्कामभाव से सम्पन्न कर्तव्यकर्म द्वारा चित्तशुद्धि होने पर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। निष्कामभाव से अथवा अनासक्त होकर कर्म करने पर वह कल्याणकारक हो जाता है। भगवद्भाव में स्थित होकर, अध्यात्मबुद्धि से, अपने कर्मों का समर्पण करने से, मनुष्य मानो कर्म द्वारा भगवान् की अर्चना कर लेता है और उसका भगवान् के साथ योग हो जाता है।[१]

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ ११॥

शब्दार्थ : नचिकेतः = हे नचिकेता; **कामस्य आप्तिम्** = भोग-विलास की प्राप्ति को; **जगतः प्रतिष्ठाम्** = संसार की प्रतिष्ठा को, यश को; **क्रतोः अनन्त्यम्** = यज्ञ के फल की अनन्तता को; **अभयस्य पारम्** = निर्भीकता की सीमा को; **स्तोममहत्** = स्तुति के योग्य और महान्; **उरुगायम्** = वेदों में जिसके गुण गाए गए हैं; (अथवा, **स्तोमम्**= स्तुति एवं प्रशंसा को; **महत् उरुगायम्** = महान् स्तुतिसहित जयजयकार के गान को); **प्रतिष्ठाम्** = दीर्घ काल तक स्थिति, स्थिर रहने की स्थिति; **दृष्ट्वा** = देखकर, सोचकर; **धृत्या** = धृति से, धैर्य से; **धीरः** = ज्ञानी तुमने; **अत्यस्राक्षीः** = छोड़ दिया।

वचनामृत : हे नचिकेता, तुमने भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति करानेवाले स्वर्ग को (अथवा भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति को), यज्ञ की अनन्तता (अनन्त फल) से प्राप्त स्वर्ग को (अथवा यज्ञ के अनन्त फल को), निर्भीकता की पराकाष्ठावाले स्वर्ग को (अथवा निर्भीकता की पराकाष्ठा को), स्तुति के योग्य एवं महान् और वेदों में जिसका गुणगान है ऐसे स्वर्ग को, स्थिर स्थितिवाले स्वर्ग को (अथवा लोकप्रतिष्ठा को), धीर होकर, विचार करके छोड़ दिया है (तुमने स्वर्ग का मोह छोड़ दिया है)।

---

१. **योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये** (गीता, ५.११)—योगी आसक्ति त्यागकर, निष्काम होकर, अपनी चित्तशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।
मनःप्रसादे, परमात्मदर्शनम् (विवेकचूडामणि)—मन के निर्मल होने पर परमात्मा का दर्शन हो जाता है।

२. **मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा** (गीता, ३.३०)—भगवान् को सब कर्मों का अर्पण करके अध्यात्मभाव से कर्तव्यकर्म करते रहें।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (गीता, १८.४६)—अपने कर्मों द्वारा अर्चना करने से मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ : यमाचार्य नचिकेता के वैराग्यभाव की प्रशंसा करके उसे ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी घोषित करते हैं। (इस मंत्र के अनेक अर्थ किए गए हैं।)

दिव्यामृत : अधिकांश मनुष्य अपने सारे जीवनकाल में भोगैश्वर्य से प्रलुब्ध रहकर भोग-विलास की सामग्री के अर्जन और संग्रह में व्यस्त और व्यग्र रहते हैं। उनके लिए धन-प्राप्ति से बढकर कुछ नहीं होता। प्राय: मनुष्य तीन एषणाओं से ग्रस्त रहते हैं—पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र और परिवार की संवृद्धि की एषणा (कामना), लोकैषणा अर्थात् लोक में पूजित होने की एषणा, सत्ता, यश और प्रतिष्ठा की एषणा तथा वित्तैषणा—धन तथा भोगैश्वर्य की सामग्री की एषणा। अनेक मनुष्य अनन्त फल देनेवाले अनन्त यज्ञ करते हैं। अनेक मनुष्य निर्भयता की सीमा को प्राप्त करने की कामना करते हैं। अभय की सीमा के लिए वे स्वर्गलोक की प्राप्ति की कामना करते हैं। स्वर्गलोक अनन्त सुखभोगों की चरम सीमा के रूप में प्रख्यात है तथा अनेक मनुष्य सदा सुखमय रहने की कामना से प्रेरित होकर उसकी प्राप्ति के लिए तप, दान और यज्ञ करते हैं। प्राय: मनुष्य अपने स्तुतिगान के लिए लालायित रहते हैं तथा अपनी जयजयकार के गान की कामना करते हैं। सभी लोक में अपनी प्रतिष्ठा अर्थात् सम्मान तथा दीर्घकाल तक स्थिर स्थिति (आधार) की कामना करते हैं। स्वर्ग को भी दीर्घ काल तक स्थिति का आधार कहा जाता है। भाव यह है कि प्राय: सभी मनुष्य सदा सुख और सम्मान-प्राप्ति की कामना करते हैं। संसार के भौतिक सुखभोगों की कामना से ग्रस्त होने के कारण मनुष्य जगत्प्रपंच में फँसा रहता है तथा अपने भीतर ही संस्थित परमात्मा की ओर अभिमुख नहीं होता तथा परमानन्द की अनुभूति नहीं कर पाता। यह मनुष्य का परम दुर्भाग्य होता है कि वह कामनापूर्ति की मृगतृष्णा में भटकते हुए ही अमूल्य जीवन को विनष्ट कर देता है। विवेकी पुरुष क्षणिक एवं तुच्छ दैहिक सुखों के कुचक्र में नहीं फँसते तथा जीवन के उच्चतर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनका त्याग कर देते हैं।

नचिकेता धीर है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के प्रति उसकी सच्ची निष्ठा है। उसमें अदम्य जिज्ञासा तथा असाधारण वैराग्यभाव है, जो ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक होते हैं। उसने स्वर्ग के वैभव को भी तुच्छ समझ लिया तथा अपनी प्रतिष्ठा एवं जयजयकार को भी महत्त्वहीन एवं हेय मान लिया। यमाचार्य उसकी सत्पात्रता देखकर चकित हो गए और उन्होंने उसकी अनेक प्रकार से प्रशंसा की।

गुरु-शिष्य में आन्तरिक तारतम्य स्थापित हो गया तथा यमाचार्य ने उपदेश का प्रारंभ कर दिया।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

शब्दार्थ : तम् दुर्दर्शम् = उस कठिनता से जानने के योग्य; **गूढम्** = अप्रत्यक्ष, छिपे हुए; **अनुप्रविष्टम्** = भीतर प्रविष्ट, सर्वत्र विद्यमान, सर्वव्यापी, सबके अन्तर्यामी; **गुहाहितम्** = (हृदयरूपी) गुहा में स्थित; **गह्वरेष्ठम्** = गह्वर में रहनेवाला, गहरे प्रदेश में अर्थात् हृदयकमल में रहनेवाला, अथवा संसाररूपी गह्वर में रहनेवाला; **पुराणम्** = सनातन, पुरातन; **अध्यात्मयोग अधिगमेन** = अध्यात्मयोग (आत्मज्ञान) की प्राप्ति अथवा उसकी ओर गति होने से, अन्तर्मुखी वृत्ति होने से; **देवम्** = दिव्यगुणों से संपन्न, द्युतिमान्, परमात्मा को; **मत्वा** = मनन कर, समझकर; **धीरः** = ज्ञानी, विद्वान्; **हर्षशोकौ जहाति** = हर्ष और शोक (सुख-दुःख) को छोड़ देता है।

वचनामृत : उस दुर्दर्श (दर्शन में कठिन, जानने में कठिन), गूढ (छिपे हुए, अदृश्य), सर्वत्र विद्यमान (सर्वव्यापी), बुद्धिरूप गुहा में स्थित, हृदयरूप गह्वर में (अथवा संसाररूप गहन गह्वर में) रहनेवाले, सनातन देव (परमात्मा) को अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा, मनन कर (समझकर), धीर पुरुष हर्ष और शोक को छोड़ देता है।

सन्दर्भ : इस मंत्र से यमाचार्य के उपदेश का प्रारंभ होता है। मंत्र १२, १३ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा परस्पर जुड़े हुए हैं।

दिव्यामृत : प्रकृति ने विकासक्रम में सर्वोच्च मनुष्य को बुद्धि प्रदान कर दी, जिससे वह चिन्तन-मनन द्वारा पुण्य और पाप, भले और बुरे, सुन्दर और बीभत्स, सत्य और असत्य का भेद कर सके तथा संसार में विषयभोगों के सागर को विवेकपूर्वक पार करके और भौतिक सुखभोगों की क्षणभंगुरता एवं निस्सारता को देखकर तथा अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ही स्थित परमात्मा की दिव्यानुभूति प्राप्त कर सकता है।

ऐसे महापुरुष, जो संसार के अनेकानेक आकर्षणों एवं प्रलोभनों से मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार की राह पर चल पड़ते हैं, धीर पुरुष कहलाते हैं। उद्दालक ऋषि के पुत्र नचिकेता ने अल्पायु में ही भौतिक सुखों एवं वैभवों की निस्सारता को देख लिया तथा वह उत्कट जिज्ञासा एवं प्रखर वैराग्यभाव से सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के लिए तत्पर हो गया। नचिकेता को ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानकर यमराज ने उसे 'धीर' कह दिया।

ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्म की अनुभूति के द्वार सबके लिए समान रूप से खुले हुए हैं, किन्तु अधिकारी पुरुष ही इस क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। इसके लिए

अदम्य जिज्ञासा, वैराग्यभाव तथा श्रद्धा की प्रमुख आवश्यकता होती है तथा शास्त्रीय ज्ञान गौण होता है।

परब्रह्म परमात्मा दुर्दर्श होता है अर्थात् उसका दर्शन एवं अनुभव अत्यधिक कठिन होता है। वह इन्द्रियगोचर नहीं होता तथा वह बुद्धिगम्य भी नहीं होता। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण गूढ तथा सर्वत्र अनुप्रविष्ट है अर्थात् सर्वव्यापक है।

परमात्मा मनुष्य के भीतर हृदयरूपी गुहा में बसता है।[१] वह गहरे हृदय के भीतर ही सूक्ष्म अन्तराकाश में अधिष्ठित है तथा वहाँ ब्रह्म की प्राप्ति का अधिष्ठान है। ज्ञानी दहर (सूक्ष्म अन्तराकाश) में ही परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।[२] वे ध्यान में स्थित होने पर हृदयरूपी गुहा में प्रवेश करके दहर में परमात्मा की ज्योति का दर्शन करते हैं।

परमात्मा सनातन अर्थात् अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसे अध्यात्मयोग से प्राप्त किया जाना संभव है अर्थात् अपने भीतर ही उसका अनुभव हो सकता है। इन्द्रियों का संचालन मन से, मन का संचालन बुद्धि से और बुद्धि का संचालन आत्मा से होता है। मनुष्य अन्तर्मुखी होने पर अपने भीतर ही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

परमात्मा दिव्य है, अलौकिक है, ज्योतिःस्वरूप है। धीर अर्थात् ज्ञानी पुरुष उसका मनन करते हैं तथा उसका ध्यान करते हैं। परमात्मा को प्राप्त होनेवाला महात्मा चेतना के सर्वोच्च स्तर पर स्थित रहता है तथा वह देह, मन और बुद्धि के हर्ष-शोक अर्थात् सुख-दुःख तथा पुण्य-पाप के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है।[३] ऐसा महापुरुष आनन्दावस्था में स्थित रहता है।

---

१. **निहितं गुहायाम्** (मुण्डक उप०, ३.१.७)

निहितं गुहायाम् (तै० उप०, २.१.१), **गुहायां निहितो** (श्वेत० उप०, ३.२०)

२. **अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशः तस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यम्** (छ० उप०, ८.१.१)

—इस ब्रह्मपुर में (शरीर के भीतर, हृदय के अन्दर) स्थित दहरनामक कमल जैसे सूक्ष्म आकाश में ब्रह्म का (अथवा उसकी प्राप्ति का) अधिष्ठान है।

हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (गीता, १३.१७)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो (गीता, १५.१५)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता, १८.६१)

३. **तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय** (मुण्डक उप०, ३.१.३)

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १३॥

शब्दार्थ : मर्त्यः = मनुष्य; **एतत् धर्म्यम् श्रुत्वा** = इस धर्ममय (उपदेश) को सुनकर; **सम्परिगृह्य** = भली प्रकार से धारण (ग्रहण) करके; **प्रवृह्य** = भली प्रकार विचार करके, विवेचना करके; **एतम् अणुम् आप्य** = इस सूक्ष्म (आत्मतत्त्व) को; **आप्य** = जानकर; **सः** = वह; **मोदनीयम् लब्ध्वा**= आनन्दस्वरूप परमात्मा को पाकर; **मोदते हि** = निश्चय ही आनन्दमग्न हो जाता है; **नचिकेतसम्** = (तुम) नचिकेता के लिए; **विवृतम् सद्म मन्ये** = मैं परमधाम (ब्रह्मपुर) का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

वचनामृत : मरणधर्मा मनुष्य इस धर्ममय उपदेश को सुनकर, धारण कर (तथा) विवेचना कर (तथा) इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को जानकर (इसका अनुभव कर लेता है), वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर निश्चय ही आनन्दमग्न हो जाता है। मैं नचिकेता के (तुम्हारे) लिए परमधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

सन्दर्भ : यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानते हैं। **''स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा''** को कण्ठस्थ कर लें।

दिव्यामृत : ब्रह्मविद्या का आध्यात्मिक उपदेश मननीय होता है। कोई ज्ञानी एवं अनुभवी महापुरुष ही परमात्मा-संबंधी उपदेश करने का अधिकारी होता है। कुछ ग्रन्थों का अध्ययन करके, बिना कुछ ग्रहण किये हुए ही, उपदेश करना निष्प्रभावी होता है। जिस मनुष्य ने स्वयं अनुभव नहीं किया, वह किसी जिज्ञासु को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अनुभवशून्य ज्ञान निरर्थक होता है।

वही जिज्ञासु आध्यात्मिक उपदेश का लाभ उठा सकता है, जिसमें उत्सुकता, वैराग्यभाव, श्रद्धा तथा विनम्रता हो। आत्मज्ञान गूढ तथा रहस्यमय होता है। मनुष्य देहाध्यास से छूटकर अर्थात् देह को आत्मा से पृथक् समझकर तथा देह के बन्धन से मुक्त होकर, आत्मा के शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप में स्थित होने पर परमानन्द का अनुभव कर लेता है। आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा दिव्य है। जड इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसका ग्रहण नहीं कर सकती। सद्गुरु से सूक्ष्म आत्मतत्त्व का उपदेश सुनकर, उत्तम शिष्य उस पर चिन्तन-मनन करके उसका ग्रहण कर लेता है। आध्यात्मिक साधना का मार्ग ही परमानन्द-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है तथा ब्रह्मविद्या ही मरणधर्मा मनुष्य को अमृतत्व प्रदान करने में सक्षम है। आनन्द का स्रोत एवं निधान मनुष्य के भीतर उसका आत्मा ही है।[१]

---

१. **यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।** (नारदसूत्र, ६)

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ १४॥

शब्दार्थ : यत् तत् = जिस उस (परमात्मा) को; **धर्मात् अन्यत्र अधर्मात् अन्यत्र** = धर्म से अतीत (परे), अधर्म से भी अतीत; **च** = और; **अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र** = इस कृत और अकृत से भिन्न, कार्य और कारण से भी भिन्न, कृत-क्रिया से संपन्न, अकृत-क्रिया से संपन्न न हो; **च भूतात् भव्यात् अन्यत्र** = और भूत और भविष्यत् अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों से भी परे, भिन्न अथवा पृथक्; **पश्यसि** = आप जानते हैं; **तत् वद** = उसे कहें।

वचनामृत : (नचिकेता ने कहा) आप जिस उस आत्मतत्त्व को धर्म और अधर्म से परे और कृत और अकृत से भिन्न, भूत और भविष्यत् से परे जानते हैं, उसे कहें।

सन्दर्भ : नचिकेता आत्मतत्त्व को जानना चाहता है, वह उसकी मात्र भूमिका और अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता।

दिव्यामृत : नचिकेता की उत्सुकता आत्मा के संबंध में है तथा उसे अपनी प्रशंसा सुनने में रुचि नहीं है। वह उस परमतत्त्व को जानने में उत्सुक और आतुर है जो निस्सीम है। वह परमात्मा, जो धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पाप से परे है तथा जो कार्य और कारण के सिद्धान्त से भी परे है और तीनों कालों से परे अर्थात् त्रिकालाबाधित, अनादि और अनन्त है, ऐसा वह अद्भुत तत्त्व क्या है ? यह ब्रह्म की जिज्ञासा है।[1] परब्रह्म परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। वह इस दृश्यमान जगत् में सर्वत्र व्यापक होकर भी इससे परे है। बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण तथा वाणी द्वारा उसका वर्णन करना संभव नहीं है।

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १५॥

शब्दार्थ : सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति = सारे वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, जिस लक्ष्य की महिमा का गान करते हैं; **च सर्वाणि तपांसि यत् वदन्ति** = और सारे तप जिसकी घोषणा करते हैं, वे जिसकी प्राप्ति के साधन हैं; **यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति** = जिसकी इच्छा करते हुए (साधकगण)

—जिसे जानकर मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, अपने भीतर रमण करता है। **मूकस्वादनवत्** (नारदसूत्र, ५२)—गूँगे का गुड़ जैसा, अनिर्वचनीय सुख।

१. **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (ब्रह्मसूत्र, १.१.१)

ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं; **तत् पदम् ते संग्रहेण ब्रवीमि** = उस पद को तुम्हारे लिए संक्षेप से कहता हूँ; **ओम् इति एतत्** = ओम् ऐसा यह (अक्षर) है।

वचनामृत : सारे वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं और सारे तप जिसकी घोषणा करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए (साधकगण) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को तुम्हारे लिए संक्षेप से कहता हूँ, ओम् ऐसा यह अक्षर है।

सन्दर्भ : ओम् की महिमा का गान है।

दिव्यामृत : यमाचार्य नचिकेता से संक्षेप में परमपद का कथन करते हैं। सब वेद जिस परमपद का प्रतिपादन करते हैं और जिस पद की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के कठोर तप किए जाते हैं, वह प्राप्य परमपद एक ही है। उसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। ब्रह्मचर्य-पालन का अर्थ ब्रह्मप्राप्ति को लक्ष्य मानकर स्वाध्याय और आध्यात्मिक साधना करना है।

वह परमपद ओम् है। यह अक्षरब्रह्म तथा शब्दब्रह्म है। यह एक अक्षर ब्रह्म का वाचक अथवा प्रतीक है। यह तीन मूल ध्वनियों अ, उ, म् का संयोजन है। नाम तथा नामी में अभेद होता है तथा वे एक होते हैं, नाम से नामी का उल्लेख होता है। ओम् ब्रह्म का नाम है, साक्षात् ब्रह्म ही है। ओम् की साधना करने से ब्रह्म की प्राप्ति एवं अनुभूति संभव हो जाती है। ओम् प्रणव है।[१] '**ॐ तत्सत्**' की महिमा तथा '**ॐ**' की महिमा का गान भगवद्गीता में भी किया गया है। ओम् का उच्चारण करके यज्ञ-दान-तप आदि का प्रारंभ किया जाता है।[२] अनेक उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ओम् के अद्भुत प्रभाव की चर्चा की गयी है।[३] ओंकार परब्रह्म और अपरब्रह्म है। इसकी तीन मात्राओं की उपासना

---

१. **तस्य वाचकः प्रणवः** (योगदर्शन, १.२७)—ॐ परमात्मा का वाचक है।

२. **ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ (गीता, १७.२३)
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ (गीता, १७.२४)

३. **ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत।**
ओमिति हि उद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ (छान्दोग्य उप०, १.१.१)
—ॐ परब्रह्म का प्रतीक है। ॐ कहकर उद्गान करता है। उद्गाता ॐ इस अक्षर से प्रारंभ करके उद्गान करता है। ॐकार उद्गीथ है। ॐ उद्गीथसंज्ञक प्रकृत

के पृथक्-पृथक् अनेक फल हैं।[१] ३ॐ ब्रह्म है, ३ॐ समस्त जगत् है। ३ॐ से ब्रह्म को प्राप्त करता है।[२]

हरिः ३ॐ का उच्चारण परमात्मा का स्मरण है।[३] ३ॐ का उच्चारण करके उपनिषदों का प्रारंभ किया जाता है।

३ॐ ऐसा यह अक्षर है अर्थात् अविनाशी परमात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसका ही उपव्याख्यान अर्थात् उसकी ही महिमा का गान है। जो भूत, वर्तमान, भविष्यत् है, वह सब ओंकार है तथा त्रिकालातीत इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[४]

ध्यानयोग में ३ॐ को धनुष, आत्मा को बाण मानकर तथा परब्रह्म परमात्मा को लक्ष्य मानकर वेधन करने अर्थात् ३ॐ के सहारे से आत्मा को परमात्मा में निमग्न करने का उपदेश किया गया है।[५]

यदि मनुष्य अपने जीवन में ३ॐ का जप तथा उसकी उपासना करता है तथा अन्तकाल में एकाक्षर ब्रह्म ३ॐ का जप करते हुए प्राणविसर्जन करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।[६]

ओम् की लयपूर्ण (आरोह-अवरोह, स्वरसंक्रमसहित) ध्वनि शंख-ध्वनि के सदृश होती है तथा वह महाविस्फोट की महाध्वनि की प्रतिध्वनि है, जिससे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ था तथा उससे असाध्य रोगों की सफल चिकित्सा होना संभव है।[७] श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य शंखनाद की ध्वनि में मेघों की गड़गड़ाहट

अक्षर है। इससे परमात्मा की अपचिति (उपासना) होती है। **तेनेयं''रसेन** (छान्दोग्य उप०, १.१.९) इसकी अर्चना परमात्मा की ही अर्चना है।

१. **परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। ''स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव''संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।** (प्रश्नोपनिषद्, ५)

२. **ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्''ब्रह्मैवोपाप्नोति।** (तैत्ति० उप०, १.८)

३. **हरिः ३ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति** (श्वेताश्वतर उप०, १.१)

४. **ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवत् भविष्यत् इति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।** (माण्डूक्य उप०, १)

५. **प्रणवोधनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।**
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डक उप०, २.२.4)

६. **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता, ८.१३)

७. सृष्टि के आदि में जो भयंकर महाविस्फोट हुआ, उसकी लयात्मक अनुगूँज सृष्टि की

के समान ऐसा अद्भुत कम्पन था, जो शत्रु-सेना के महारथियों के हृदयों को विदीर्ण कर देता था। श्रीकृष्ण की वंशी की सप्ततारक ध्वनि में भी वही दिव्य आकर्षण था, जिसमें वशीकरण की अद्भुत क्षमता थी।

ओम् का जप, ध्यान और उसकी उपासना निस्सन्देह ब्रह्मप्राप्ति एवं ब्रह्मानन्द की अनुभूति का उत्तम साधन है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

शब्दार्थ : एतत् अक्षरम् एव हि ब्रह्म = यह अक्षर ही तो (निश्चयरूप से) ब्रह्म है; **एतत् अक्षरम् एव हि परम** = यह अक्षर ही तो (निश्चयरूप से) परब्रह्म है; **हि एतत् एव अक्षरम् ज्ञात्वा** = इसीलिए इसी अक्षर को जानकर; **यः यत् इच्छति तस्य तत्** = जो जिसकी इच्छा करता है, उसको वही (मिल जाता है)।

वचनामृत : यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसीलिए इसी अक्षर को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, उसे वही मिल जाता है।

सन्दर्भ : ॐ की महिमा का गान किया गया है।

दिव्यामृत : ॐ ब्रह्म का वाचक अविनाशी अक्षर है तथा ब्रह्म ही है।[1] यह सोपाधि ब्रह्म और परब्रह्म (अथवा अपर ब्रह्म और ब्रह्म) दोनों का द्योतक है। ॐ की उपासना और साधना करके, इसके गूढ (रहस्यपूर्ण) स्वरूप को समझकर, मनुष्य सिद्ध पुरुष हो जाता है तथा लौकिक (भौतिक) एवं पारलौकिक (आध्यात्मिक) संकल्पों की पूर्ति में समर्थ हो जाता है। इस महान् अक्षर का वर्णन विश्व के अनेक प्रचलित धर्मों में अनेक प्रकार से किया गया है।[2]

समस्त गतिमयता का आधार है तथा वह सृष्टि के अन्त तक निरन्तर प्रवहमान रहेगी। (हमने ध्यानयोग में इसका रहस्यमय अनुभव किया तथा इसको ग्रहण कर तथा संकेन्द्रित कर, इसके अनेक सफल प्रयोग किए। यह गवेषण का विषय है।)

१. शब्द और अर्थ सम्पृक्त होते हैं, पृथक् नहीं किए जा सकते हैं। कालिदास कहते हैं—"**वागर्थाविव संपृक्तौ**" वाक् और अर्थ की भाँति संपृक्त (पार्वती और शिव)। "**गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न**" वाणी और अर्थ जल और वीचि (लहर) की भाँति अभिन्न (सीता और राम) यद्यपि देखने में भिन्न हैं। ॐ अपने लक्ष्यभूत ब्रह्म से भिन्न नहीं है तथा दोनों एक ही हैं।

२. "In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God." (Bible, 1.1)

ब्रह्म एक ही है, वह अद्वैत है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से अपरब्रह्म और परब्रह्म दो रूप हैं। मायारहित, शुद्ध ब्रह्म को परब्रह्म तथा मायासहित ब्रह्म को अपरब्रह्म कह दिया जाता है। ॐ से दोनों परिलक्षित होते हैं।[१]

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

शब्दार्थ : एतत् श्रेष्ठम् आलम्बनम् = यह श्रेष्ठ आलम्बन है, आश्रय, सहारा है; **एतत् परम् आलम्बनम्** = यह सर्वोच्च आलम्बन है; **एतत् आलम्बनम् ज्ञात्वा** = इस आलम्बन को जानकर; **ब्रह्मलोके महीयते** = ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

वचनामृत : ॐकार ही श्रेष्ठ आलम्बन है, ॐकार सर्वोच्च (अन्तिम) आलम्बन अथवा आश्रय है। इस आलम्बन को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमामय होता है।

सन्दर्भ : ॐकार मनुष्य का श्रेष्ठ आलम्बन है।

दिव्यामृत : भारतीय मूल के समस्त धर्मों में ॐ को मङ्गलदाता एवं अमङ्गलहर्ता माना जाता है। यह मनुष्य की वाणी का स्वाभाविक एवं सहज महिमामय विस्फोट है। यह विश्व की सूक्ष्म एवं दिव्य परमसत्ता का वाचक अथवा प्रतीक है। वाचक और वाच्य अथवा नाम और नामी एक होते हैं। ॐकार भगवत्प्राप्ति का माध्यम अथवा सोपान है। यह मनुष्य का श्रेष्ठ आलम्बन है। वास्तव में अपने भीतर संस्थित परमात्मा ही मनुष्य का अन्तिम तथा सर्वोच्च आलम्बन (आश्रय, सहारा) है। प्रतीक को माध्यम मानने के कारण ॐ मनुष्य का स्थायी और श्रेष्ठ आलम्बन है। संसार के सारे आलम्बन अस्थिर और अस्थायी होते हैं। केवल परमात्मा का सहारा ही सच्चा सहारा होता है। संसार कर्मभूमि है तथा मनुष्य को पुरुषार्थ भी करना चाहिए, किन्तु दृढ आलम्बन तो परमात्मा और उसके नाम का ही होता है।

ॐ की महिमा को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है। सभी

सन्त जॉन ने कहा—'प्रारंभ में शब्द था, वह शब्द परमात्मा के साथ था, और वह शब्द ही परमात्मा था।' यही लौगोस (Logos) अथवा शब्द है।

१. **परं चापरं च यदोङ्कारः** (प्रश्न उप०, ५)— पर और अपरब्रह्म ओंकार है। अ उ म् को ईश्वर, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीन वेद (वेदत्रयी), स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर, कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि के संयोजन का प्रतीक भी कहा गया है।

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक का अधिकारी हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।[1] ब्रह्म का उपासक ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त होता है। ओ३म् प्रतीक है। प्रतीकोपासना लक्ष्य प्राप्ति का श्रेष्ठ माध्यम होती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

शब्दार्थ : विपश्चित् = ज्ञानस्वरूप आत्मा (अथवा परब्रह्म परमात्मा); **न जायते वा न म्रियते** = न जन्म लेता है और न मरता है; **अयम् न कुतश्चित् बभूव** = यह न तो किसीसे उत्पन्न हुआ है, न किसी उपादान कारण से उत्पन्न हुआ; **(न) कश्चित् (बभूव)** = (न) इससे कोई उत्पन्न हुआ है। **(अयम् न कुतश्चित् बभूव, कश्चित् न बभूव**—यह न किसीसे, कहीं से, उत्पन्न हुआ, न यह उत्पन्न हुआ। आत्मा का जन्म नहीं हुआ, उसे दो प्रकार से कहा गया तथा यह भी एक अर्थ किया गया है।) **अयम्** = यह आत्मा; **अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः** = अजन्मा (जन्मरहित), नित्य, सदा एकरस रहनेवाला, सनातन (अनादि) है, (पुरातन—पुराना होकर भी नया अर्थात् सनातन); **शरीरे हन्यमाने न हन्यते** = शरीर को मार दिये जाने पर, नष्ट हो जाने पर, इसकी हत्या नहीं होती, इसका नाश नहीं होता।

वचनामृत : ज्ञानस्वरूप आत्मा न जन्म लेता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है। यह न किसीका कार्य है, न किसीका कारण है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर के नष्ट हो जाने पर इसका नाश नहीं होता।[2]

---

१. ज्ञात्वा अथवा विदित्वा अर्थात् जानने पर अथवा ज्ञान होने पर ब्रह्म की प्राप्ति का उल्लेख सभी उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया है। उसकी गणना करना अत्यन्त कठिन है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥

(यजुर्वेद, ३१.१८, श्वेत० उप०, ३.८)

—मनुष्य परमात्मा को जानकर मृत्यु को पार कर लेता है।

ब्रह्मलोक का उल्लेख भी उपनिषदों में अनेक प्रकार से तथा अनेक अर्थों में किया गया है। उसकी विस्तृत चर्चा करना भी अत्यन्त कठिन है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति का अर्थ ब्रह्म की प्राप्ति करना ही विवेकसम्मत है। **लोक्यते प्रकाशयते इति लोकः।** प्रकाश करनेवाला लोक कहलाता है। प्रकाशित करने के कारण ब्रह्म स्वयं भी ब्रह्मलोक है।

२. भगवद्गीता (२.२०) में भी यह मंत्र है, किन्तु वहाँ कुछ भिन्न है—

सन्दर्भ : आत्मा अजर-अमर है। आत्मा विकारी नहीं है, वह सदा एकरस है।

दिव्यामृत : आत्मा दिव्य एवं अमूर्त है। आत्मा अज है, नित्य और शाश्वत है तथा अनादि है। देह में स्थित आत्मा परम सूक्ष्म एवं चैतन्य स्वरूप है तथा वह परमात्मा का दिव्य अंश होने के कारण परमात्मा ही है। आत्मा को परमात्मा भी कहा जाता है। मनुष्य के देहनाश होने पर भी अजर-अमर आत्मा नष्ट नहीं होता। घट फूट जाता है तथा उसके भीतर का आकाश (घटाकाश) व्यापक आकाश (महाकाश) के साथ एक हो जाता है।[१]

दार्शनिक दृष्टि से परब्रह्म मायारहित, शुद्ध चैतन्यस्वरूप होता है तथा न उसका जन्म होता है और न वह किसीको जन्म देता है, किन्तु अपरब्रह्म (ईश्वर) मायासहित होता है तथा सृष्टि की उत्पत्ति करता है, उसका संचालन करता है, संहार करता है और वही भक्तों का उपास्य होता है। इसी प्रकार, देह में स्थित आत्मा मायारहित, शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही होता है, किन्तु वही मायासहित (माया से आवृत) होने पर जीवात्मा कहलाता है।[२] वास्तव में शुद्ध ब्रह्म और मायासहित ब्रह्म एक ही हैं तथा देह में स्थित आत्मा अथवा जीवात्मा भी एक ही हैं। **जीवो ब्रह्मैव नापरः** अर्थात् मनुष्य का जीवात्मा तत्त्वतः आत्मा अथवा ब्रह्म ही है। दार्शनिक दृष्टि के पारिभाषिक भेद केवल कुछ सिद्धान्तों को समझाने के लिए ही हैं तथा वास्तव में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म एक ही है।

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

'विपश्चित्' का अर्थ विवेकशील प्राणी मानने पर कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा जन्म-मरण से ऊपर उठ जाता है तथा वह आत्मस्वरूप में संस्थित ही जाता है। वह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। यह '**अहं ब्रह्मास्मि**' की स्थिति है। ज्ञानी मात्र द्रष्टा हो जाता है, अहंकारशून्य। किन्तु 'विपश्चित्' का अर्थ आत्मा (ब्रह्म) ही किया जाना उचित है (तै० उप०, २.१)

१. **जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।**
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कथ्यौ ग्यानी॥ (कबीर)

२. **भूमि परत भा ढाबर पानी, जिमि जीवहि माया लपटानी।** —जैसे वर्षा का शुद्ध जल भूमि पर गिरने से, मिट्टी से मिलकर कुछ अशुद्ध हो जाता है, ऐसे ही शुद्ध आत्मा माया से आवृत होकर जीवात्मा का रूप ले लेता है। जैसे अशुद्ध जल को पुनः शुद्ध किया जा सकता है, वैसे ही (तप द्वारा) जीवात्मा के माया से मुक्त होने पर वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही होता है। दोनों एक ही हैं।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

शब्दार्थ : चेत् = यदि; **हन्ता हन्तुं मन्यते** = मारनेवाला (स्वयं को) मारने में समर्थ मानता है; **चेत् हतः हतम् मन्यते** = यदि मारा जानेवाला स्वयं को मारा गया मानता है; **तौ उभौ न विजानीतः** = वे दोनों नहीं जानते; **अयम् न हन्ति न हन्यते** = यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है।

वचनामृत : यदि कोई मारनेवाला स्वयं को मारने में समर्थ मानता है और यदि मारा जानेवाला स्वयं को मारा गया मानता है, वे दोनों ही (सत्य को) नहीं जानते। यह आत्मा न मारता है, न मार दिया जाता है।

सन्दर्भ : आत्मा अविनाशी है।[१]

दिव्यामृत : मनुष्य का देह स्थूल पंचतत्त्वों (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के संयोग से बनता है तथा वह प्राणों के निर्गमन होने पर विनष्ट हो जाता है। आत्मा मूल स्वरूप में नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह अजर-अमर है तथा उसका विनाश नहीं होता। यदि कोई स्वयं को किसीके मारने में समर्थ समझता है और यदि मारा जानेवाला स्वयं को मारा गया हुआ मानता है तो वे दोनों अज्ञानी ही हैं। यह आत्मा एक शाश्वत दिव्यतत्त्व है तथा इसका विनाश संभव नहीं है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह अविनाशी, अजर और अमर है। जडतत्त्व परिवर्तनशील और विनाशशील होता है, किन्तु चेतनतत्त्व परिवर्तनरहित और शाश्वत होता है।

मनुष्य का देह मरणशील है, किन्तु यह साधना द्वारा मोक्ष का द्वार खोल देता है। देह संरक्षणीय होता है, किन्तु मनुष्य भोगैश्वर्य में फँसकर इसका दुरुपयोग कर लेता है।[२] देह का सदुपयोग मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति करा देता है।

---

१. भगवद्गीता (२.१९) में यही मंत्र इस प्रकार से है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

If the red slayer thinks he slays
Or if the slain thinks he is slain,
They know not well the subtle ways
I keep and pass and turn again ('Brahma' poem by R. W. Emerson)

२. **'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा'** रामचरित मानस
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (कालिदास)—शरीर धर्म का प्रथम साधन है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥

शब्दार्थ : अस्य जन्तोः गुहायाम् निहितः आत्मा = इस जीवात्मा के (अथवा देहधारी मनुष्य के) हृदयरूप गुहा में निहित आत्मा (परमात्मा); **अणोः अणीयान् महतः महीयान्** = अणु से भी सूक्ष्म, महान् से भी बड़ा (है); **आत्मनः तम् महिमानम्** = आत्मा (परमात्मा) की उस महिमा को, उसके स्वरूप को; **अक्रतुः** = संकल्परहित, कामनारहित; **धातुप्रसादात्** = मन तथा इन्द्रियों के प्रसाद अर्थात् उनकी शुद्धता होने से; (**धाता**—विधाता, भगवान्; **धातुः प्रसादात्**—भगवान् की कृपा से—यह अन्य अर्थ भी किया गया है।) **पश्यति** = साक्षात् देख लेता है, स्वयं अनुभव कर लेता है; **वीतशोकः** = समस्त दुःखों से परे चला जाता है, परम सुखी हो जाता है। (**अक्रतुः वीतशोकः धातुप्रसादात् पश्यति**—निष्काम शोकरहित होकर इन्द्रियों की शुद्धि से अथवा भगवान् की कृपा से देख लेता है, यह एक भिन्न अन्वय तथा अन्वयार्थ है।)

वचनामृत : इस जीवात्मा की हृदयरूप गुहा में स्थित आत्मा (परमात्मा) अणु से भी छोटा, महान् से भी बड़ा है। परमात्मा की उस महिमा को निष्काम व्यक्ति मन तथा इन्द्रियों की निर्मलता होने पर देख लेता है और (समस्त) शोक से पार हो जाता है।

सन्दर्भ : यह मंत्र उपनिषद्-प्रेमियों को अत्यन्त प्रिय है। यह श्वेताश्वतर उपनिषद् (३.२०) में भी है। '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' को कण्ठस्थ कर लें।

दिव्यामृत : परमात्मा संसार में छोटे-से-छोटे कण से भी छोटा तथा बड़ी-से-बड़ी वस्तु से भी बड़ा (लघु से भी लघुतर, महान् से भी महत्तर) है। वह सर्वव्यापक है तथा सर्वत्र समाया हुआ है। वह समस्त सत्ता का आधार है। उसके बिना किसीकी सत्ता नहीं है। वह विश्व की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है।

इन्द्रियों, मन और बुद्धि से युक्त तथा माया से आवृत होकर मनुष्य का आत्मा जीवात्मा के रूप में मानो बद्ध हो जाता है, किन्तु वह मुक्त होकर, माया के आवरण से मुक्त होकर, अपने मूल स्वरूप में तो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही होता है। आत्मा ही परमात्मा है। बद्धावस्था में आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है। यहाँ जीवात्मा को जन्तु कहा गया है। यद्यपि वह परब्रह्म पुरुषोत्तम के समीप ही स्थित रहता है, मायामोहवश वह उसे देखता नहीं है।

ज्ञान का उदय होने पर, ज्ञान के प्रकाश में, जीवात्मा अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को समझकर, परमात्मा की महिमा को जान लेता है और सदा के लिए सब

प्रकार के शोक अर्थात् सब प्रकार के दुःख से मुक्त हो जाता है तथा आनन्दावस्था में स्थित हो जाता है।[1]

मनुष्य इन्द्रियों तथा मन के विषयानुरक्त अथवा विषयभोगरत होने पर अर्थात् इन्द्रियों और मन के दूषित होने पर, सत्य का दर्शन एवं अनुभव नहीं कर पाता। इन्द्रियों तथा मन के शुद्ध होने पर अर्थात् भोगैश्वर्य के आकर्षण से मुक्त होने पर, काम, क्रोध और लोभ के प्रभाव से मुक्त होने पर, मनुष्य परमात्मा की महिमा को जान सकता है तथा परमात्मा की कृपा का पात्र हो जाता है। संसार के सुख क्षणभंगुर तथा भटकानेवाले होते हैं, आध्यात्मिक सुख स्थायी और सच्चा होता है। आध्यात्मिक मनुष्य अर्थात् अन्तर्मुखी होकर परमात्मा की ओर अभिमुख होनेवाला मनुष्य ही आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। परमात्मा मनुष्य के हृदयक्षेत्र में अधिष्ठित होने के कारण समीप ही होता है, किन्तु विषयानुरागी मनुष्य उसे नहीं देखता तथा परमात्मा की महिमा को नहीं जानता। परमात्मा के स्वरूप को देखकर अर्थात् समझकर मनुष्य वीतशोक हो जाता है।[2]

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥

शब्दार्थ : आसीनः = बैठा हुआ; **दूरम् व्रजति** = दूर पहुँच जाता है; **शयानः** = सोता हुआ; **सर्वतः याति** = सब ओर चला जाता है; **तम् मदामदम् देवम्** = उस मद से युक्त होकर भी अमद (अनुन्मत्त) देव को; **मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति** = मुझसे अतिरिक्त कौन जानने में समर्थ है?

वचनामृत : परमात्मा बैठा हुआ भी दूर पहुँच जाता है, सोता हुआ भी

---

१. उपनिषदों तथा भगवद्गीता में इतने अधिक स्थानों पर वीतशोक (शोकरहित) होने तथा अक्षयसुख पाने की चर्चा है कि उनकी गणना करना कठिन है। उपनिषदों का उद्देश्य मनुष्य को भय, चिन्ता और शोक से मुक्त करके आनन्दावस्था में प्रस्थापित करना है। **वीतशोक** (मुण्डक उप०, ३.१.२., श्वेत० उप०, २.१४ तथा ४.७)

२. **'पश्यति'** (देखता है, अर्थात् साक्षात् अनुभव करता है) का प्रयोग उपनिषदों में अनेक स्थानों पर है। (मुण्डक उप०, ३.२ श्वेत० उप०, ४.७)
आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति,
दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्याति॥ (अथर्व०, ४.२०.१)
—हे दवि, तू जिसे मिल जाय, वह सब कुछ दूर-दूर तक देख लेता है। यह एक श्रेष्ठ मंत्र है। अथर्ववेद के इस मंत्र के अनेक अर्थ किए गए हैं।

सब ओर चला जाता है, उस मद से मदान्वित न होनेवाले देव को, मुझसे अतिरिक्त कौन जानने के योग्य है ?

सन्दर्भ : परमात्मा के ज्ञान का उत्तम अधिकारी होना कठिन है।

दिव्यामृत : परमात्मा की शक्ति अचिन्त्य है। उसका वर्णन परस्पर विरोधी गुणों से किया जाता है।[१] परमात्मा दुर्विज्ञेय है। उसे बुद्धि के तर्कों से नहीं समझा जा सकता। परमात्मा नितान्त रहस्यमय, दिव्य सत्ता है तथा उसका ज्ञान अत्यन्त गूढ है। निस्सन्देह,आध्यात्मिक साधना करने पर अपने भीतर ही उसकी अनुभूति होती है। उसका अनुभव करने पर मनुष्य आनन्दमय हो जाता है तथा उस अनुभव का वर्णन शब्दों द्वारा करना संभव नहीं है। ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान मात्र पथ-प्रदर्शन कर सकता है तथा अनुभव व्यक्ति को स्वयं ही करना होता है। यात्राचित्र मार्गदर्शन करा देते हैं, किन्तु वे गन्तव्य तक नहीं पहुँचा सकते। निश्चय ही, ऐसे महापुरुष, जो परमात्मा का अनुभव कर चुके हैं, अत्यन्त सहायक हो सकते हैं।

परमात्मा मानो बैठा हुआ दूर पहुँच जाता है, सोता हुआ भी सब ओर चला जाता है। वह आनन्द के मद से पूर्ण होकर भी मदोन्मत्त नहीं होता। सन्तजन भी अकथ्य शक्तियों से भरपूर होकर शान्त और सम ही रहते हैं। परस्पर विरोधी धर्मवाले परमात्मा की महिमा को ज्ञानी महात्मा ही समझ सकते हैं।

यमाचार्य निरहंकार और निरभिमान होकर, सहज भाव से कहते हैं कि उनसे भिन्न अन्य कोई परमात्मा के स्वरूप और उसकी महिमा को नहीं जान सकता, अर्थात् परमात्मा को जानना और प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। परमात्मा दुर्विज्ञेय है, किन्तु वह सूक्ष्म बुद्धिवाले ज्ञानी पुरुषों के लिए सुविज्ञेय है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

शब्दार्थ : अनवस्थेषु शरीरेषु = स्थिर न रहनेवाले अर्थात् विनश्वर शरीरों में; **अशरीरम्** = शरीररहित; **अवस्थितम्** = स्थित; **महान्तम् विभुम्** = (उस) महान् सर्वव्यापक; **आत्मानम्** = परमात्मा को; **मत्वा** = मनन करके, जानकर; **धीरः** = विवेकशील पुरुष, बुद्धिमान् पुरुष; **न शोचति** = कोई शोक नहीं करता।

वचनामृत : अस्थिर शरीरों में संस्थित (उस) महान् सर्वव्यापक परमात्मा को जानकर धीर शोक नहीं करता।

---

१. ईशावास्य उपनिषद् के मंत्र ४, ५ में भी परमात्मा को विरोधी धर्मों से युक्त अर्थात् अचिन्त्य कहा गया है।

सन्दर्भ : वह सर्वव्यापक परमात्मा अपने भीतर ही संस्थित है।

दिव्यामृत : परमात्मा से संचालित एवं नियंत्रित प्रकृति ने मनुष्य को चेतना-शक्ति एवं बुद्धि से संपन्न करके उसे अपने भीतर ही परमात्मा को खोजने और पाने की क्षमता प्रदान कर दी, किन्तु मनुष्य बाह्य जगत् के भौतिक आकर्षणों से प्रलुब्ध होने के कारण अपने भीतर झाँकने और परमात्मा के अस्तित्व का अनुभव करने में प्रवृत्त नहीं होता। परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है तथा नश्वर शरीरों में संस्थित रहता है। बुद्धिमान् मनुष्य उसे सूक्ष्म बुद्धि से जानकर उच्चस्तरीय आनन्दावस्था को प्राप्त कर लेता है तथा सदा के लिए शोकमुक्त हो जाता है अर्थात् मोह एवं शोक के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।[1]

मनुष्य के अनित्य एवं विनश्वर देह में जीवन के स्रोत एवं आधार के रूप में घटघटवासी परमात्मा स्वयं विराजमान रहता है तथा उसे प्राप्त होना जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ २३॥

शब्दार्थ : अयम् आत्मा न प्रवचनेन न मेधया न बहुना श्रुतेन लभ्यः = यह आत्मा न प्रवचन से, न मेधा (बुद्धि) से, न बहुत श्रवण करने से प्राप्त होता है; **यम् एषः वृणुते तेन एव लभ्यः** = जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त होता है; **एषः आत्मा** = यह आत्मा; **तस्य स्वाम् तनूम् विवृणुते** = उसके लिए स्व-स्वरूप को प्रकट कर देता है।

वचनामृत : यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसे स्वीकार कर लेता है, उसको ही प्राप्त हो सकता है। यह परमात्मा उसे अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।[2]

---

१. **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।** (ईशावास्य उप०, ७) नानुशोचितुमर्हसि (गीता, २.२५), **नैवं शोचितुमर्हसि** (२.२६), **न त्वं शोचितुमर्हसि** (२.२७, २.३०) 'शोक' का व्यापक अर्थ समस्त दुःख, भय और चिन्ता है।

२. शङ्कराचार्यजी इस मंत्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार करते हैं—
नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारण-शक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां

सन्दर्भ : यह मंत्र कठोपनिषद् के श्रेष्ठ मंत्रों में परिगणित होता है। यह मुण्डक उपनिषद् (३.२.३) में भी है। इसे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है।

दिव्यामृत : परमात्मा मनुष्य के भीतर ही प्राप्य है। बाह्य साधन उपयोगी तो होते हैं, किन्तु वे मनुष्य को साध्य तक नहीं पहुँचा सकते। प्रवचन अर्थात् वेदादि का अध्ययन और विवेचनापूर्ण व्याख्यान तथा चर्चा-परिचर्चा करना पर्याप्त नहीं होता। बुद्धि द्वारा परमात्म-तत्त्व को जानना संभव नहीं होता, क्योंकि परमात्मा मात्र बुद्धि का विषय नहीं है। बौद्धिक तर्क की एक सीमा होती है तथा परम सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण मात्र कुशाग्र बुद्धि से भी नहीं हो सकता। तर्कशील व्यक्ति तर्क-वितर्क के जाल में फँसकर उलझे रह जाते हैं और किसी निर्णय एवं निश्चय तक नहीं पहुँच पाते। तीव्र बुद्धि होने का अहंकार सत्य की प्राप्ति के मार्ग में बाधक हो जाता है। श्रुत अर्थात् विद्वत्ता से तथा ज्ञानग्रन्थों के श्रवण से भी स्थायी लाभ नहीं होता।

परमात्मा ही जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। वास्तव में परमात्मा स्वयं ही स्वयं को प्रकट करता है। परमात्मा का दर्शन एवं अनुभव परमात्मा के प्रसाद से अथवा उसकी कृपा से ही होता है।[१] किन्तु परमात्मा किसी भी उस महात्मा के लिए सुलभ हो जाता है, जो उसका अधिकारी अथवा सत्पात्र हो जाता है। परमात्मा को जानने के लिए तथा उसकी दिव्यानुभूति प्राप्त करने के लिए उत्कट इच्छा, अहंकारशून्यता, चित्त की निर्मलता तथा वैराग्यभाव मनुष्य को भगवत्कृपा का अधिकारी बना देते हैं।

स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः। यह आत्मा प्रवचन अर्थात् अनेक वेदों को स्वीकार करने से प्राप्त अर्थात् विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा अर्थात् ग्रन्थार्थ-धारण की शक्ति से ही जाना जा सकता है और न केवल बहुत-सा श्रवण करने से ही; तो फिर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस पर कहते हैं—यह साधक जिस अपने आत्मा का वरण—प्रार्थना करता है, उस वरण करनेवाले आत्मा द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है, अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। किस प्रकार वह उपलब्ध होता है, इस पर कहते हैं—उस आत्मकामी के प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्य को विवृत—प्रकाशित कर देता है।

१. **सो जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**

सूर्य का प्रकाश तो हमारे द्वार तक स्वयं ही आता है, किन्तु द्वार खोलने पर ही हम उसका दर्शन कर सकते हैं। मन को निर्मल करने पर अथवा मन के द्वार खोल देने पर परमात्मा का दिव्य प्रकाश प्रकट हो जाता है, जो मनुष्य के हृदय की गुहा में निगूढ रहता है तथा जीवन का स्रोत एवं आधार होता है।[१]

श्रेष्ठ पुरुष प्रार्थना और ध्यान के अभ्यास से मन को निर्मल कर लेते हैं अर्थात् उसे राग, द्वेष आदि विकारों से मुक्त कर देते हैं तथा सुरदुर्लभ दिव्यानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। हमारे अपने भीतर ही आनन्द का स्रोत एवं अक्षय कोश है तथा वह सबके लिए सदा सुलभ है। मनुष्य अपने मार्ग एवं लक्ष्य का निर्धारण एवं वरण करने में स्वतन्त्र है। दिव्य प्रकाश की एक झलक पाकर ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसका जीवन धन्य हो जाता है। दिव्यानुभूति होने पर भय और भ्रम निवृत्त हो जाते हैं।

सोद्देश्य मौनधारण, जप, चिन्तन और प्रार्थना द्वारा चित्त की निर्मलता होने पर मनुष्य की चेतना ऊर्ध्वमुखी हो जाती है तथा वह विश्व की विराट् चेतना में संस्थित हो जाता है। बिन्दु में सिन्धु की अनुभूति होने पर मनुष्य को आत्यन्तिक तृप्ति हो जाती है तथा उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

शब्दार्थ : प्रज्ञानेन अपि = सूक्ष्म बुद्धि से भी, आत्मज्ञान से भी; **एनम्** = इसे (परमात्मा को); **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्** = न वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो कुत्सित आचरण से (दुष्कर्म से) अविरत अर्थात् निवृत्त न हुआ हो; **न अशान्तः** = न अशान्त मनुष्य (प्राप्त कर सकता है); **न असमाहितः** = न वह प्राप्त कर सकता है, जो असमाहित अर्थात् एकाग्र न हो, असंयत (असंयमी) हो; **वा** = और; **न अशान्तमानसः** = न अशान्त मनवाला ही (उसे प्राप्त कर

---

१. **ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ (गीता, ५.१६)
—अज्ञान का अन्धकार निवृत्त होने पर, ज्ञान सूर्य के सदृश परमात्मा को प्रकाशित कर देता है, परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करा देता है।
(अनेक प्रवचनकर्त्ता मात्र मूलग्रन्थों एवं व्याख्याग्रन्थों को पढकर, बिना उन्हें आत्मसात् किए हुए ही, रटकर प्रवचन करते हैं तथा प्रवचनों को मात्र लौकिक कामनापूर्ति का साधन बना लेते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वों को ग्रहण करके ही अनुभवी मनुष्य सहज भाव से सार्थक एवं सुन्दर प्रवचन कर सकता है।)

सकता है); **आप्नुयात्** = प्राप्त कर सकता है। (प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्—प्रज्ञान से इसे प्राप्त किया जा सकता है, यह एक अन्य अर्थ है।)

वचनामृत : इसे (परमात्मा को) सूक्ष्म बुद्धि अथवा आत्मज्ञान से भी न वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो दुराचार से निवृत्त न हुआ हो; न अशान्त व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकता है, न वह व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकता है, जो असंयत हो और न अशान्त मनवाला ही उसे प्राप्त कर सकता है। (एक अन्य अर्थ है कि प्रज्ञान से ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।)

सन्दर्भ : परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसका अधिकारी होना आवश्यक है। नैतिकता अध्यात्म-मार्ग का प्रथम सोपान है। अनैतिक एवं कुमार्गगामी सत्पात्र नहीं होता। यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में यह मंत्र पूर्ववर्ती मंत्र २३ के साथ जुड़ा हुआ अथवा उसका पूरक है।

दिव्यामृत : मनुष्य दुष्कर्म में प्रवृत्त रहकर कभी गहन शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता और जिसका मन शान्त नहीं है, वह न सांसारिक सुख का अनुभव कर सकता है और न आध्यात्मिक आनन्द का ही। वास्तव में अशान्त रहनेवाला व्यक्ति जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं कर सकता।

जिस मनुष्य का मन भौतिक सुखभोग की वासना तथा सांसारिक पदार्थों की तृष्णा से ग्रस्त रहता है, जिसका मन राग और द्वेष में फँसा रहता है और भौतिक आकर्षणों के बन्धन में रहता है, वह सदा अशान्त ही रहता है। अशान्ति के मार्ग पर चलकर मनुष्य शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है?

वास्तव में मनुष्य के मन और इन्द्रियों की चंचलता उसे शान्त नहीं रहने देती। जिसका मन शान्त और समाहित नहीं होता, वह स्थिर और एकाग्र भी नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति सांसारिक सुखभोगों को प्राप्त करके भी दुःखी रहता है।

परमात्मा मनुष्य के भीतर हृदय में ही विराजमान रहता है, किन्तु सदा सुलभ और समीप होने पर भी वह दुर्लभ और दूर रहता है। मनुष्य समाहित और शान्त होकर अपने भीतर ही उसकी दिव्यता का अनुभव कर सकता है।

जिस मनुष्य का मन भोगासक्ति के कारण सत्य के मार्ग को छोड़कर दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, वह तीर्थयात्रा, व्रत, दान, पूजा-पाठ आदि करके भी अशान्त अथवा उद्विग्न ही रहता है।

दुष्कर्म (अनैतिक कर्म) मनुष्य के मन में अपराध-बोध उत्पन्न कर देते हैं तथा मनुष्य अपने भीतर अशान्त और दुःखी रहने लगता है। उसे जीवन भारमय एवं दुःखमय प्रतीत होने लगता है। चारित्रिक गुणों (सच्चाई, ईमानदारी) को छोड़ने पर अन्य सब उपलब्धियाँ (विद्वत्ता, धनार्जन, सत्ता और सम्मान

के पदों पर आसीन होना इत्यादि) विषमय अर्थात् अशान्तिप्रद सिद्ध होते हैं। चारित्रिक गुणों (नैतिक मूल्यों) की कीमत पर महान् सफलता अथवा उपलब्धि भी सच्चा सुख नहीं दे सकती। रेत की दीवार कदापि स्थिर नहीं रहती।

दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहनेवाला मनुष्य केवल ज्ञान के माध्यम से ही परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन अनेक प्रकार के विकारों, दोषों तथा चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है और उसमें शान्ति एवं एकाग्रता नहीं होते। वह अन्तर्मुखी नहीं होता। दुष्कर्म में प्रवृत्त, अशान्त मनुष्य परमात्मा को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।[१] अशान्त मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं होता।[२]

मनुष्य को अपने मन की दिशा बदलकर, दृढता से उन सभी दुष्कर्मों का त्याग कर देना चाहिए, जो उसे परमात्मा से विमुख करते हों और घोर अशान्ति एवं दुःख उत्पन्न करते हों। साधारण अशान्ति तो मानव-स्वभाव का अंग है तथा केवल योगी ही सदा शान्त रहते हैं, किन्तु दुष्कर्म में रत मनुष्य अत्यधिक अशान्त अथवा उद्विग्न रहते हैं। दुष्कर्म को त्यागकर परमात्मा की शरण में जाने पर मनुष्य परम शान्त हो जाता है। अविचल शांति में स्थित होकर मनुष्य सत्य का संदर्शन करता है।[३]

आध्यात्मिक मार्ग के पथिक को आचरण में उत्कृष्ट रहना चाहिए तथा दुष्कर्मों से विरत होकर, सच्चे मन से भगवत्प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि दुष्कर्मों में रत रहकर वह प्रखरबुद्धि होते हुए भी तथा आत्मज्ञान प्राप्त करके भी परमात्मा का अनुभव कदापि नहीं कर सकता। आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।[४]

---

१. **न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।** (गीता, ७.१५)

२. **नाप्रशान्ताय दातव्यम्** (श्वेत० उप०, ६.२२)
—अशान्त व्यक्ति को ज्ञान नहीं देना चाहिए।

३. **आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।**
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (गीता, २.७०)
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता, २.७१)
—कामना के त्याग से शान्ति प्राप्त होती है।

४. **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।**

सच्चे भाव से भगवान् की शरण में जाने पर घोर पापी भी महात्मा हो जाता है।[१]

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

शब्दार्थ : यस्य = जिस (परमेश्वर) के; **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे** = ब्रह्म और क्षत्र दोनों अर्थात् बुद्धिबल और बाहुबल दोनों; **ओदनः भवतः** = पके हुए चावल अर्थात् भोजन हो जाते हैं; **मृत्युः यस्य उपसेचनम्** = मृत्यु जिसका उपसेचन (भोजन के साथ खाये जानेवाले व्यंजन, चटनी इत्यादि) (**भवति**—होता है); **सः यत्र इत्था कः वेद** = वह परमेश्वर जहाँ (या कहाँ), जैसा (या कैसा), कौन जानता है?

वचनामृत : जिस परमात्मा के लिए बुद्धिबल और बाहुबल दोनों भोजन हो जाते हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन होता है, वह परमात्मा जहाँ जैसा है, कौन जानता है?

सन्दर्भ : परमात्मा दुर्विज्ञेय है।

दिव्यामृत : मनुष्य जिन शक्तियों को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, वे भी कालरूप परमेश्वर के समक्ष तुच्छ हैं। बुद्धिबल और बाहुबल तथा उनसे संपन्न मनुष्य काल के लिए मानो मात्र भोजन ही हैं। मृत्यु जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य प्रकम्पित हो जाते हैं, काल के लिए मात्र उपसेचन है जिसे व्यंजन के रूप में भोजन के साथ खाया जाता है।[२] परमात्मा काल का भी काल है, महाकाल है तथा वह स्वयं काल से अप्रभावित अकाल पुरुष है। सम्पूर्ण व्यक्त जगत् काल का एक ग्रास ही है। जो मनुष्य बुद्धिबल अथवा बाहुबल पाकर मदोन्मत्त एवं गर्वित हो जाते हैं, वे मूढ होते हैं। मूढ जन ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वे अमर हैं तथा वे अन्तर्मुखी होकर गंभीर चिन्तन नहीं करते।

विवेकीजन कुत्सित आचरण से विरत होकर तथा सांसारिक सुखभोगों के आकर्षण से मुक्त रहकर परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं तथा मृत्यु को पार कर लेते हैं।

●

---

१. **अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्**
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥ (गीता, ९.३०)
सम्मुख होइ जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।

२. **भूतानि कालः पचतीति वार्ता**—युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा, काल प्राणियों को खा जाता है, यही एक (प्रमुख) बात है।

प्रथम अध्याय

तृतीय वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

शब्दार्थ : सुकृतस्य लोके = पुण्यों (शुभकर्मों) के फलस्वरूप लोक में, मानवदेह में; **परमे परार्धे** = **परमे** (श्रेष्ठ) **परार्धे** (हृदय-प्रदेश में) परब्रह्म के परमोच्च निवास (हृदय) में; **गुहां प्रविष्टौ** = हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट, स्थित; **ऋतम् पिबन्तौ** = सत्य का पान करनेवाले दो; **छायातपौ (इव)** = छाया और आतप (धूप) के सदृश; ब्रह्मविदः = ब्रह्मवेत्ता; **वदन्ति** = कहते हैं; **च ये** = और जो; **त्रिणाचिकेताः** = तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करनेवाले; **पञ्चाग्नि (वदन्ति)** = पञ्चाग्नि यज्ञ करनेवाले गृहस्थ (कहते हैं)।

वचनामृत : सुकृत (शुभकर्म) के फल का लोक में (देह के भीतर) आस्वादन करनेवाले, श्रेष्ठ स्थल हृदयप्रदेश में, हृदय की गुहा में स्थित, ऋत (सत्य का) पान करनेवाले दो (जीवात्मा और परमात्मा) छाया और आतप (प्रकाश, धूप) के सदृश रहते हैं—ब्रह्मज्ञानी ऐसा कहते हैं और जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं तथा पञ्चाग्नि यज्ञ करनेवाले (कर्मकाण्डी) गृहस्थजन भी ऐसा ही कहते हैं।

सन्दर्भ : परमात्मा और जीवात्मा का परस्पर नित्य संबंध कहा गया है।

दिव्यामृत : परमात्मा और जीवात्मा तत्त्वतः एक हैं, किन्तु उनमें एक भिन्नता है। दोनों मानवदेह के भीतर हृदयप्रदेश में स्थित रहते हैं और ऋत का पान करते हैं।[१] वास्तव में जीवात्मा कर्मफल का भोग करता है, परमात्मा कोई भोग नहीं करता, किन्तु दोनों के समीप रहने के कारण छत्रिन्याय से दोनों को कर्म के फल का पान अथवा भोग करनेवाला कह दिया गया। एक छतरी के नीचे दूसरे व्यक्ति के आ जाने पर उसे भी छतरीवाला कह दिया जाता है। जीवात्मा भोक्ता होता है, किन्तु निरुपाधिक परमात्मा अथवा सोपाधिक ईश्वर भी भोक्ता नहीं होता।

---

१. मुण्डक उपनिषद् (३.१.१) में इन्हें दो पक्षियों के रूप में कहा गया है। छान्दोग्य उप० (६.३.२) में दोनों के साथ रहने का वर्णन है।

लोक अर्थात् मनुष्य के देह में, हृदयगुहा में बुद्धि का संस्थान है। बुद्धि में प्रकाशमान आत्मा (परमात्मा) का बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब जीवात्मा कहलाता है। आत्मा बिम्ब है और निर्मलतत्त्वबुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब जीवात्मा है। ये दोनों संसारी और असंसारी होने के कारण छाया और आतप (धूप, प्रकाश) के सदृश साथ रहते हैं। आतप पूर्ण प्रकाश है, किन्तु त्रिगुणात्मिका बुद्धि में आकर वह मन्द अथवा अल्प हो जाता है तथा शुद्ध नहीं रहता। आतप (प्रकाश) विभु (सर्वव्यापक) है, छाया सीमित है। जीवात्मा में आत्मा तथा बुद्धि के गुणों का समन्वय है। उसमें संकल्प और अहंकार होते हैं।[१] ब्रह्मवेत्ता स्वानुभव के आधार पर ऐसा कहते हैं तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करनेवाले और गार्हपत्य इत्यादि पञ्चाग्नि की उपासना करनेवाले गृहस्थजन भी ऐसा ही कहते हैं।

जीवात्मा तथा परमात्मा का अंश और अंशी के रूप में नित्य संबंध है। माया के आवरण से मुक्त होने पर जीवात्मा परमात्मा ही होता है।[२]

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥ २॥

शब्दार्थ : यः ईजानानाम् सेतुः = जो यज्ञ करनेवालों के लिए सेतु है; **नाचिकेतं (अग्निम्)** = (उस) नाचिकेत अग्नि को; (नाचिकेत अग्नि ज्ञानकाण्ड के भी अन्तर्गत है। इसका उद्देश्य ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करना होता है।); **पारम् तितीर्षताम् यत् अभयम्** = पार अर्थात् संसार-सागर को पार करने की इच्छावालों के लिए जो अभयपद है; **(तत्) अक्षरम् परम् ब्रह्म** = (उस) अविनाशी परब्रह्म को; **शकेमहि** = हम जानने एवं प्राप्त करने में समर्थ हों।

वचनामृत : यमराज परमात्मा से प्रार्थना करता है—हे परमात्मन्, यज्ञ करनेवालों के लिए जो सेतु के सदृश है, उस नाचिकेत अग्नि को (तथा) संसार को पार करने की इच्छावालों के लिए जो अभयपद है, उस अविनाशी ब्रह्म को जानने में हम समर्थ हों।

सन्दर्भ : यमराज उपदेश करते हुए ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रार्थना का सहारा लेते हैं।

दिव्यामृत : आध्यात्मिक साधना में प्रार्थना का अत्यधिक महत्त्व है। प्रार्थना मनुष्य को निरहंकार करके विनम्र बना देती है। विनम्रता मनुष्य को आध्यात्मिक

---

१. **सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः** (श्वेत० उप०, ~~३/८~~, ५.८)
२. **जीवो ब्रह्मैव नापरः**—जीवात्मा ब्रह्म ही है, अन्य नहीं है।

उपलब्धि का अधिकारी बना देती है। अहंकार अन्धकार की भाँति चेतना को आवृत एवं विकृत कर देता है। प्रार्थना परमब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है।

समस्त वेदों में प्रार्थना के मंत्र प्रकीर्ण हैं। वास्तव में सभी धर्मों में प्रार्थना को अतिशय महत्त्व दिया गया है। प्रार्थना में शब्दों की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक होता है। प्रार्थना परमात्मा के प्रति भावपूर्ण आत्मसमर्पण एवं अन्तःकरण की पुकार होती है। प्रार्थना एक भावयोग है, जो मनुष्य को परमात्मा के साथ जोड़ देता है। ज्ञान के साथ भक्तिभाव होना अत्यन्त आवश्यक होता है। भक्ति शुष्क ज्ञान को रसमय बना देती है।

यमाचार्य प्रार्थना करते हैं—हे परमेश्वर, आप हमें ऐसी सामर्थ्य दीजिए कि हम उस नाचिकेत अग्नि के रहस्य को जानकर उसे संपन्न कर सकें, जो यज्ञ करनेवालों के लिए दुःख-सागर से पार कर देने के लिए सेतु के सदृश है। हम उस अभयपद को प्राप्त कर लें, जो अविनाशी अक्षररूप है। परब्रह्म पुरुषोत्तम संसार-सागर को पार करने की इच्छावालों का एकमात्र आश्रय तथा प्राप्तव्य है। परमात्मा को प्राप्त करके मनुष्य नितान्त अभय हो जाता है।[१]

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥

शब्दार्थ : आत्मानम् = जीवात्मा को; **रथिनम् विद्धि** = रथ का स्वामी समझो; **तु** = और; **शरीरम् एव रथम्** = शरीर को ही रथ (समझो); **तु बुद्धिम् सारथिम् विद्धि** = और बुद्धि को सारथि (रथ चलानेवाला) समझो; **च मनः एव प्रग्रहम्** = और मन को ही प्रग्रह (लगाम)।

मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् आहुः = मनीषीजन इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं; **विषयान् तेषु गोचरान्** = विषयों (भोग के पदार्थों) को उनके गोचर (विचरने का मार्ग) (कहते हैं); **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (आत्मा इन्द्रियमनः युक्तम्)** = शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त (जीवात्मा) को; **भोक्ता इति आहुः** = भोक्ता है, ऐसा कहते हैं। (आत्मा के कई अर्थ होते हैं। यहाँ मंत्र ३ में आत्मा का

---

१. समस्त उपनिषदों में तथा भगवद्गीता में अगणित स्थलों पर अनेक प्रकार से कहा गया है कि भगवान् की प्राप्ति से मनुष्य नितान्त अभय हो जाता है। उन स्थलों का उल्लेख करना कठिन है। **अभयं हि वै ब्रह्म** भवति (बृह० उप० ४.४.२५) अभय होने पर ब्रह्म हो जाता है।

अर्थ जीवात्मा तथा मंत्र ४ में शरीर है। मंत्र ३ में आत्मा को शरीर के संचालक के रूप में जीवात्मा कहा गया है तथा मंत्र ४ में जीवात्मा के यंत्र शरीर को आत्मा कहकर, शरीर, इन्द्रिय, मन सहित जीवात्मा की ही चर्चा की गयी है।

वचनामृत : जीवात्मा को रथ का स्वामी समझो और शरीर को ही रथ समझो, बुद्धि को सारथि समझो और मन को ही लगाम समझो। मनीषीजन इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, विषयों को उनके गोचर (विचरण का मार्ग) कहते हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन से युक्त आत्मा को (जीवात्मा को) भोक्ता है, ऐसा कहते हैं।

सन्दर्भ : मंत्र ३ और ४ परस्पर जुड़े हुए हैं। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मंत्र ३ से ९ तक रथ आदि के रूपक से आत्मा तथा जीवात्मा के स्वरूप को कहा गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (२.९) में इसी रूपक का उपयोग हुआ है।

दिव्यामृत : मनीषी जन ने मानव-जीवन को यात्रा की संज्ञा दी है।[१] मनुष्य एक अल्प अवधि तक पृथ्वी पर रहता है तथा अकस्मात् यहाँ से सदा के लिए बिदा हो जाता है। विवेकशील पुरुष अपने जीवन को आनन्दमय बना लेता है तथा विवेकहीन मनुष्य इसे दुःखमय कर लेता है।

मनुष्य के सामने दो मार्ग खुले होते हैं—एक श्रेयमार्ग, दूसरा प्रेयमार्ग। मनुष्य मार्ग का चयन करने में स्वतंत्र होता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र होता है तथा कर्म के फल का भोग करने में ईश्वरीय विधान से नियंत्रित होने के कारण परतंत्र होता है। जो जैसा बोता है, वैसा काटता है, यद्यपि मनुष्य को इसका बोध नहीं होता।[२] मूढ मनुष्य भगवान् और भाग्य को व्यर्थ ही दोष देता है।

धीर अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष श्रेय और प्रेय पर विचार करके, श्रेय (कल्याण) मार्ग को श्रेष्ठ समझकर उसका ग्रहण कर लेता है तथा मन्द बुद्धिवाला मनुष्य अप्राप्त सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने में और प्राप्त वस्तुओं को सुरक्षित रखने में जुटा रहता है तथा प्रेय अर्थात् भोगों के मार्ग का अनुसरण करता है। श्रेयमार्ग मनुष्य को आनन्द में स्थित कर देता है तथा प्रेयमार्ग मनुष्य को भटकाकर दुःख में डुबो देता है।

मनुष्य का शरीर एक रथ के सदृश है, जिसका स्वामी जीवात्मा होता

---

१. भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ में सारथि बनकर रथ के पाँच घोड़ों को प्रग्रह (लगाम) द्वारा चलाते हैं मानो वे पाँचों इन्द्रियों को अनुशासन में रखकर जीवन-रथ को ही चलाते हैं। प्लेटो ने भी जीवन-रथ के लिए इस रूपक का प्रयोग किया है। (Dialogues of Plato) बौद्ध-साहित्य में भी रथ एवं चक्र की परिकल्पना की गई है।

२. **कर्म प्रधान विस्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा।**

है। चेतन जीवात्मा से वियोग होने पर शरीर निश्चेष्ट एवं जड हो जाता है। मृत्यु का अर्थ है देह से चेतनतत्त्व जीवात्मा का वियोग हो जाना। जीवात्मा शरीर में स्थित रहकर बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा प्राण के द्वारा मनुष्य को सचेष्ट एवं सक्रिय रखता है। बुद्धि मानो सारथि है और मन प्रग्रह (लगाम) है। मन संकल्प, विकल्प, इच्छा करता है तथा बुद्धि मन को नियंत्रित करती है। इन्द्रियाँ घोड़ों की भाँति विषयों की ओर भागती हैं। विषय इन्द्रियों के विचरण का मार्ग अथवा क्षेत्र होते हैं। जीवात्मा देह, बुद्धि, मन और इन्द्रियों के साथ जुड़कर सुख-दु:ख का भोग करता है। जीवात्मा भोक्ता होता है। वास्तव में बुद्धि ही मन और इन्द्रियों को नियंत्रित कर श्रेय अथवा प्रेय के मार्ग पर चलाती है। यदि बुद्धिरूपी सारथि असावधान हो जाए तथा मन और इन्द्रियों को स्वतंत्र छोड़ दे तो वे जीवात्मा को भटकाकर दु:खी बना देते हैं।

वास्तव में देह साधन है तथा साध्य नहीं है। यह संसार मात्र भोगभूमि नहीं है। मनुष्य परमात्मा का श्रेष्ठ उपकरण बनकर निष्काम कर्म द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब जीवात्मा स्वामी होकर भी मन और इन्द्रियों का दास हो जाता है अथवा उनसे बद्ध हो जाता है, तब वह दु:ख से ग्रस्त हो जाता है। यह इस श्रेष्ठ रूपक का तात्पर्य है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

शब्दार्थ : यः सदा अविज्ञानवान् तु अयुक्तेन मनसा भवति = जो सदा अविज्ञानवान् (अविवेकी बुद्धिवाला) और अयुक्त (अवशीभूत, चंचल) मनसहित (मनवाला) होता है; **तस्य इन्द्रियाणि सारथेः दुष्टाश्वाः इव** = उसकी इन्द्रियाँ सारथि के दुष्ट घोड़ों की भाँति; **अवश्यानि** = वश में न रहनेवाली (हो जाती हैं।)

तु यः सदा विज्ञानवान् युक्तेन मनसा भवति = और जो सदा विज्ञानवान् (विवेकशील बुद्धिवाला) युक्त (वशीभूत) मनसहित (मनवाला) होता है; **तस्य इन्द्रियाणि सारथेः सदश्वाः इव** = उसकी इन्द्रियाँ सारथि के अच्छे घोड़ों की भाँति; **वश्यानि** = वश में रहनेवाली (होती हैं)।

वचनामृत : जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और अनियंत्रित मनवाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में नहीं रहतीं; और जो सदा विवेकशील बुद्धिवाला, वशीभूत मनवाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।

सन्दर्भ : दोनों मंत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। बुद्धि और मन महत्त्वपूर्ण होते हैं।

दिव्यामृत : रथ की उपनिषदीय परिकल्पना द्वारा मनुष्य जीवन-यात्रा को सार्थक एवं सुखमय बना सकता है। मानव-देह में जीवात्मा, जो परमात्मा का दिव्य अंश है तथा तत्त्वतः (शुद्ध रूप में) परमात्मा ही है, जीवन-रथ के स्वामी के रूप में संस्थित है। जीवन-रथ मानो चार चक्रों (पहियों) पर चलता है और उनकी गति चतुर्दिक् विकास-प्रक्रिया की सूचक होती है। बुद्धि सारथि के सदृश है तथा वह उचित-अनुचित, भले-बुरे का निर्णय करती है। मन प्रग्रह (लगाम) के तुल्य है, जो इन्द्रियों का संचालन करता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों (भोग्य पदार्थों) के मार्ग पर चलने में आतुर रहती हैं। बुद्धि जीवात्मा से प्रकाश लेकर मन को नियंत्रित कर सकती है और मन इन्द्रियों को नियंत्रण में रखकर, उन्हें स्वच्छन्द विचरण से रोक सकता है तथा उत्तम लक्ष्य की ओर ले जा सकता है। मनुष्य प्रेयमार्ग से दूर हटकर तथा श्रेयमार्ग पर चलकर अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकता है और श्रेयमार्ग से दूर हटकर तथा प्रेयमार्ग पर चलकर अपना तथा दूसरों का अहित कर लेता है। मानव का देह एक उत्तम उपकरण है तथा इसके उपयोग अथवा दुरुपयोग का दायित्व मनुष्य की बुद्धि पर ही होता है। इसीलिए वेदों और उपनिषदों में परमात्मा से सद्बुद्धि प्राप्त करने के लिए अगणित प्रार्थनाएँ की गयी हैं।[1]

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ ७॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥ ८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

शब्दार्थ : यः तु सदा अविज्ञानवान् अमनस्कः अशुचिः भवति = जो

१. वैदिक धर्मग्रन्थों की यह विशेषता है कि उनमें अधिकतः सद्बुद्धि के लिए अगणित प्रार्थनाएँ की गई हैं। उन प्रार्थनाओं का संकलन करना कठिन है।
वेदों के प्रख्यात गायत्री मंत्र में परमात्मा से बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना की गयी है।
ॐ अग्ने नय सुपथा (यजु०, ४०.१६)
ॐ विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव, यद् भद्रं तन्न आसुव (यजु०, ३०.३)
ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु (यजु०, ३२.१४)

भी सदा विवेकहीन, असंयतमन, अपवित्र होता है; **स तत् पदम् न आप्नोति च संसारम् अधिगच्छति** = वह उस परमपद को प्राप्त नहीं करता तथा संसारचक्र को ही प्राप्त होता है।

तु यः सदा विज्ञानवान् समनस्कः शुचिः भवति = और जो विवेकशील, संयतमन, पवित्र होता है; **स तु तत् पदम् आप्नोति** = वह तो उस परमपद को प्राप्त कर लेता है; **यस्मात् भूयः न जायते** = जहाँ से (वह) पुनः (लौटकर) उत्पन्न नहीं होता।

यः नरः = जो मनुष्य; **विज्ञानसारथिः तु मनःप्रग्रहवान्** = विवेकशील बुद्धिरूप सारथि से युक्त और मनरूप प्रग्रहवाला (मनरूप प्रग्रह को वश में रखनेवाला है); **सः अध्वनः पारम् विष्णोः तत् परमं पदम् आप्नोति** = वह मार्ग के पार विष्णु के उस (प्रसिद्ध) परम पद को प्राप्त कर लेता है।

वचनामृत : जो भी मनुष्य सदा विवेकहीन, असंयतमन, अपवित्र होता है, वह उस परमपद को प्राप्त नहीं करता तथा संसारचक्र को ही प्राप्त होता है। और जो विवेकशील, संयतमन, पवित्र होता है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से लौटकर, वह पुनः उत्पन्न नहीं होता।

जो मनुष्य विवेकशील, बुद्धिरूप सारथि से युक्त और मनरूप प्रग्रह को वश में रखनेवाला है, वह संसारमार्ग को पार करके विष्णु (सर्वव्यापक परब्रह्म पुरुषोत्तम) के उस (प्रसिद्ध) परम पद को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ : मंत्र ३ से ९ तक सात मंत्र जीवनरथ के संबंध में हैं तथा मंत्र ७, ८, ९ परस्पर जुड़े हुए हैं।

दिव्यामृत : परब्रह्म परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य को उसकी जीवनयात्रा के लिए एक संपूर्ण साधनसंपन्न शरीररथ प्रदान किया है तथा वह स्वयं प्रत्येक मनुष्य के भीतर जीवात्मा के रूप में संस्थित होकर उसे गतिशीलता एवं क्रिया-शीलता की सामर्थ्य दे देता है। जीवात्मा के रूप में, स्वयं परमात्मा के विराजमान होने के कारण मनुष्य का सचेतन शरीर मानो परमात्मा का मन्दिर ही होता है। शरीर को धर्म और कर्म का उपकरण मानकर उसको स्वस्थ एवं सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक होता है।

चेतना के विकासक्रम में बुद्धिसम्पन्न होकर मनुष्य सृष्टि का सिरमौर हो गया। बुद्धि अर्थात् चिन्तन, मनन, स्मरण, कल्पना, तर्क, निर्णय आदि शक्तियों से युक्त होकर मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति को जन्म दे दिया तथा समाज को एक व्यवस्था भी दे दी। विकासक्रम में चेतना के विकास से ही बुद्धि का उदय होता है, किन्तु बुद्धि के सम्यक् विकास एवं सदुपयोग से चेतना-शक्ति का भी अभ्युदय होता है।

मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य परमतत्त्व की जिज्ञासा एवं परमतत्त्व की खोज के द्वारा उसकी प्राप्ति करना है। विवेकशील पुरुष कर्मक्षेत्र में सक्रिय रहकर भी संसार के पार चले जाते हैं और सत्य का संदर्शन कर लेते हैं। मनुष्य अपने भीतर परम शान्त रहकर ही सत्य का संदर्शन कर सकता है।

जगत्-प्रपंच में फँसा हुआ व्यक्ति सदैव अशान्त रहता है तथा अनेक सांसारिक उपलब्धियाँ होने पर भी वह अशान्त, चिन्ताग्रस्त एवं दुःखी ही रहता है। भौतिक सुखभोग मनुष्य को आत्यन्तिक तृप्ति एवं अविचल शान्ति कभी नहीं दे सकते।

जो व्यक्ति विवेकहीन होता है,उसकी बुद्धि अपने भीतर ही विराजमान परमात्मा के दिव्य तेज से प्रकाश, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन न लेने के कारण लक्ष्य से भटकती रहती है तथा सदा मोह एवं शोक से ग्रस्त रहती है। बुद्धि के भटकने पर उसका मन पर भी नियंत्रण नहीं रहता तथा मन चंचल एवं अस्थिर हो जाता है। चंचल मन इन्द्रियों को स्वेच्छाचारी होने से नहीं रोक पाता। इस प्रकार विवेकहीन बुद्धिवाले तथा असंयत मनवाले मनुष्य की जीवनधारा ही दूषित हो जाती है तथा वह संसारचक्र में अर्थात् राग-द्वेष आदि में फँसकर विनष्ट हो जाता है।

विवेकशील बुद्धिवाला मनुष्य अपने भीतर संस्थित परमात्मा से प्रकाश एवं प्रेरणा पाकर मन को संयत कर लेता है तथा इन्द्रियों को विषयानुगामी नहीं होने देता। उसका जीवन पवित्र हो जाता है तथा वह संसारचक्र से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है।

विवेकशील मनुष्य जीवनरथ के सारथिरूप बुद्धि द्वारा मनरूप प्रग्रह को वश में कर लेता है और वह संसार-सागर को पार करके परमात्मा के परमपद को अर्थात् परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसका जीवन धन्य हो जाता है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ १०॥

शब्दार्थ : इन्द्रियेभ्यः पराः हि अर्थाः = इन्द्रियों से अर्थ (शब्दादि विषय) अधिक बलवान् हैं; **च अर्थेभ्यः मनः परम्** = और अर्थों से मन अधिक बलवान् है; **तु मनसः बुद्धिः परा** = और मन से भी अधिक प्रबल बुद्धि है; **बुद्धेः** = बुद्धि से; **महान् आत्मा परः** = महान् जीवात्मा सबसे अधिक बलवान् एवं श्रेष्ठ है।

वचनामृत : इन्द्रियों की अपेक्षा उनके अर्थ (विषय) अधिक बलवान् हैं

और अर्थों की अपेक्षा मन अधिक बलवान् है और मन से भी अधिक प्रबल बुद्धि है। बुद्धि से महान् जीवात्मा सबसे परे अथवा उत्कृष्ट है।[१]

सन्दर्भ : मनुष्य के भीतर संस्थित जीवात्मा सर्वोपरि है। (इस मंत्र में 'महान्' तथा 'आत्मा' के अनेक अर्थ किए गए हैं।)

दिव्यामृत : मानव-देह अपने में पूर्ण होता है। मनुष्य की इन्द्रियाँ बलवती होती हैं, किन्तु उनका आकर्षण करनेवाले पदार्थ उनकी अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं। इन्द्रियों तथा उनके विषयों की अपेक्षा मन अधिक बलवान् और उच्चतर होता है। यदि मन दृढ हो तो वह इन्द्रियों को स्वच्छन्द अथवा उच्छृंखल नहीं होने देता। मन इन्द्रियों को विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होने देता। किन्तु बुद्धि मन की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है, क्योंकि वह विचारपूर्वक निर्णय एवं निश्चय करती है। बुद्धि से भी परे अर्थात् अधिक उत्कृष्ट, बलवान् एवं श्रेष्ठ जीवात्मा होता है, जो जीवन-रथ का स्वामी होता है।

वास्तव में मनुष्य का जीवात्मा अपने मूलस्वरूप में शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा (परमात्मा) ही है। जीवात्मा की चेतन सत्ता ही बुद्धि को प्रकाशित करती है और सम्पूर्ण देह तथा इन्द्रियों को सचेष्ट एवं सक्रिय कर देती है। जीवात्मा ही मानव-जीवन का आधार एवं स्रोत होता है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

शब्दार्थ : महतः परम् अव्यक्तम् = महान् (जीवात्मा) से अधिक बलवान् अव्यक्त होता है; **अव्यक्तात् परः पुरुषः** =अव्यक्त से भी श्रेष्ठ परमपुरुष है; **पुरुषात् परम् किञ्चित् न** = परमपुरुष से परे अथवा उच्च एवं श्रेष्ठ कुछ भी नहीं होता। **सा काष्ठा** = वह परमसीमा अथवा अवधि है; **सा परा गतिः** = वह परमगति है।

वचनामृत : (उस) जीवात्मा से अधिक बलवान् अव्यक्त अर्थात् परमात्मा की माया-शक्ति होती है। अव्यक्त से भी श्रेष्ठ परमपुरुष परमात्मा होता है। परमपुरुष परमात्मा से परे अथवा श्रेष्ठ कुछ भी नहीं होता। वही परमसीमा है। वही सर्वोच्च, श्रेष्ठ गति है।

(इस मंत्र के भी अनेक अर्थ किए गए हैं।)

---

१. भगवद्गीता में इस प्रकार है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (गीता, ३.४२)

मंत्र १० में 'आत्मा' का अर्थ जीवात्मा है। (ब्रह्मसूत्र, १.४.१—शाङ्करभाष्य के अनुसार)

सन्दर्भ : परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सर्वोच्च है। उसे प्राप्त होना परमपद की प्राप्ति है।

दिव्यामृत : मनुष्य के देह में संस्थित जीवात्मा जीवन का आधार एवं स्रोत होता है तथा अपने विशुद्ध स्वरूप में जीवात्मा ब्रह्म ही होता है। ब्रह्म ही सत्य है तथा तात्त्विक दृष्टि से जगत् मिथ्या अर्थात् नश्वर है।[१] जीवात्मा के माया से आवृत रहने के कारण, भगवान् की अव्यक्त माया-शक्ति जीवात्मा से भी अधिक बलवती होती है। किन्तु अव्यक्त माया-शक्ति से भी श्रेष्ठ स्वयं परमपुरुष परमात्मा ही है। परब्रह्म परमात्मा अथवा परमपुरुष से बढकर अथवा उच्चतर कुछ भी नहीं होता। परमात्मा ही सबकी सीमा है तथा वही परमगति है।[२] परमात्मा को प्राप्त होना ही परमपद है, जो अत्यन्त दुर्लभ होकर भी बुद्धि की निर्मलता तथा मन की स्वच्छता द्वारा अपने भीतर ही सदा सुलभ है।

---

१. **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः** अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जीवात्मा परमात्मा ही है, अन्य कुछ नहीं।

२. भगवद्गीता में इसे ८.२०, २१.२२ में स्पष्ट किया है—

परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

—अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति से भी परे सनातन अव्यक्त परमात्मा है, जो नश्वर पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता तथा शाश्वत है। वह सनातन अव्यक्त परमात्मा अक्षर अर्थात् कभी क्षरण (विनाश) न होनेवाला तत्त्व है तथा वही परमगति है, जिसे प्राप्त होने पर मनुष्य संसार में नहीं लौटता। वह परमपुरुष भक्ति से सुलभ है।

यद्यपि सांख्यदर्शन का अपना स्थान है, तथापि वेदान्त सांख्य से भिन्न है। वेदान्त ने सांख्य-दर्शन के कुछ अंश ग्रहण किए हैं, किन्तु वेदान्त ने अद्वैत तत्त्व (अन्तिम सत्य केवल ब्रह्म है) को पुष्ट किया है, जब कि सांख्य ने पुरुष और प्रकृति दो तत्वों का प्रतिपादन किया। वेदान्त ने मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त प्रकृति से परे परमअव्यक्त, परमपुरुष, परब्रह्म परमात्मा को प्रतिष्ठित किया है। 'पुरुष' विश्वरूप तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ब्रह्म है अथवा सीमित और असीम दोनों ही है। **'पुरुष एवेदं विश्वम्'** (मुण्डक उप०, २.१.१०), आत्मैवेदं सर्वम् (छा० उप०, ७.२५.२)।

उपनिषदों की स्पष्ट घोषणा है कि परमात्मा सर्वसुलभ है तथा मन एवं बुद्धि की पवित्रता द्वारा सबके लिए वह अपने भीतर ही प्राप्य है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

शब्दार्थ : एषः आत्मा = यह आत्मा (सबका आत्मा परमपुरुष); **सर्वेषु भूतेषु गूढः** = सब प्राणियों में (स्थित होकर भी) गूढ (छिपा हुआ) है; **न प्रकाशते** = प्रत्यक्ष नहीं होता; **तु सूक्ष्मदर्शिभिः** = किन्तु सूक्ष्म दृष्टिवाले पुरुषों के द्वारा (ही); **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या** = सूक्ष्म, तीक्ष्ण बुद्धि से; **दृश्यते** = देखा जाता है।

वचनामृत : यह आत्मा (सबका आत्मा, जो परमपुरुष कहलाता है) सब प्राणियों में छिपा हुआ रहता है, प्रत्यक्ष नहीं होता। सूक्ष्म दृष्टिवाले पुरुषों के द्वारा सूक्ष्म, तीक्ष्ण बुद्धि से (उसे) देखा जाता है।

सन्दर्भ : परमात्मा प्रच्छन्न होने पर भी हमारे द्वारा अपने भीतर ही देखा जाता है। यह मंत्र प्रख्यात है।

दिव्यामृत : विश्व की परमसत्ता सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। उसे स्थूल दृष्टि से देखना संभव नहीं है। वह अत्यन्त गूढ है और प्राणियों के भीतर रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होता।[१] आध्यात्मिक साधना द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर तथा आन्तरिक दृष्टि के सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो जाने पर मनुष्य को अपने भीतर ही उस परम ज्योति का संदर्शन हो जाता है। यह मानव-जीवन की सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ उपलब्धि है। परब्रह्म का अस्तित्व है यद्यपि उसका संदर्शन होना कठिन है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

शब्दार्थ : प्राज्ञः = प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष, बुद्धिमान् मनुष्य; **वाक्** = वाक् (वाणी आदि इन्द्रियों को); **मनसी** = मन में (मनसि में सि को दीर्घ करना वैदिक है।); **यच्छेत्** = उपसंहार कर दे, निरुद्ध कर दे, संयत कर दे; **तत्** = उस मन को; **ज्ञाने आत्मनि** = ज्ञानस्थल एवं प्रकाशमय बुद्धि में; **यच्छेत्** = निरुद्ध कर दे, विलीन कर दे, उपसंहार कर दे; **ज्ञानम्** = ज्ञानस्वरूप बुद्धि को; **महति आत्मनि** = महत् तत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धि में ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ, अपरब्रह्म)

---

१. **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।** (गीता, ७.२५)
अर्थात् योगमाया से समावृत, छिपा हुआ, परमात्मा सबके प्रत्यक्ष नहीं होता। Robert Browning ने कविता Paracelsus में कुछ इसी प्रकार से कहा है।

में; **नियच्छेत्** = निरुद्ध कर दे, विलीन कर दे; **तत्** = उस (समष्टि बुद्धि) को; **शान्ते आत्मनि** = शान्त, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध आत्मा में; **यच्छेत्** = विलीन कर दे।

वचनामृत : बुद्धिमान् पुरुष वाणी आदि इन्द्रियों को मन में निरुद्ध कर दे, उस मन का प्रकाशमय बुद्धि में उपसंहार कर दे, ज्ञानमय बुद्धि को समष्टि बुद्धि में निरुद्ध कर दे, उसे (भी) शान्त आत्मा में विलीन कर दे।

सन्दर्भ : मंत्र ११ में जिस परमगति को प्राप्त करने का निर्देश दिया गया था, यहाँ उसे प्राप्त करने की साधना की चर्चा की गयी है। इस मंत्र में ज्ञान और ध्यान का समन्वय किया गया है।

दिव्यामृत : भगवान् की प्राप्ति के लिए सोपानात्मक साधना को महत्त्वपूर्ण कहा गया है। साधक आध्यात्मिक साधना[१] करते हुए परमपुरुष को प्राप्त हो जाता है। वह देहाध्यास से (मैं शरीर हूँ, मेरा यह नाम और रूप है, इस प्रकार के देह और दैहिक नाते को ही सब कुछ मानने के भाव से) मुक्त होकर **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) की उच्चावस्था में स्थित हो सकता है।

सर्वप्रथम साधक अपनी सब इन्द्रियों को मन के अधीन कर देता है और फिर मन को बुद्धि द्वारा नियंत्रित और संयत कर देता है। वह बुद्धि को परम शुद्ध समष्टि बुद्धि में (जिसे हिरण्यगर्भ तथा प्रथम उत्पन्न ब्रह्मा अथवा अपरब्रह्म भी कहा जाता है) निमग्न कर देता है और तदनन्तर बुद्धि की स्वच्छ और शान्त अवस्था (समष्टि बुद्धि) को अपने भीतर स्थित परमशान्त परब्रह्म परमात्मा में निमग्न अथवा विलीन कर देता है तथा उसकी दिव्यानुभूति प्राप्त कर लेता है। वास्तव में मन, बुद्धि और अहंकार के पार होने पर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा स्वयं को प्रकट कर देता है, जैसे धीरे-धीरे मेघ का आवरण हटने पर सूर्य स्वयं को प्रत्यक्ष कर देता है अथवा सहज ही प्रकट एवं प्रत्यक्ष हो जाता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १४॥

शब्दार्थ : उत्तिष्ठत = (हे मनुष्यो) उठो; **जाग्रत** = जागो, सचेत हो जाओ; **वरान् प्राप्य** = श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त करके, श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर; **निबोधत** = ज्ञान प्राप्त करो, परमात्मा को जानो; **कवयः** = त्रिकालदर्शी, ज्ञानी पुरुष; **तत् पथः** = उस पथ को, तत्त्वज्ञान के मार्ग को; **क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा**

---

१. **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा** (कठ० उप०, १.२.१२)।—दुर्दर्श देव को शुद्ध बुद्धियुक्त साधक अध्यात्मयोग द्वारा समझता है।

(इव) = छुरे की तीक्ष्ण, लाँघने में कठिन, धारा (के सदृश); **दुर्गम् वदन्ति** = (इसी कारण इसे) घोर कठिन कहते हैं।

वचनामृत : (हे मनुष्यो) उठो, जागो। श्रेष्ठ (ज्ञानी) पुरुषों को प्राप्त करके (श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर) ज्ञान प्राप्त करो।[१] परमज्ञानी पुरुष (तत्त्वज्ञान के) उस पथ को छुरे की तीक्ष्ण (लाँघने में कठिन) धारा (के समान) दुर्गम कहते हैं।

सन्दर्भ : यह मंत्र कठोपनिषद् के श्रेष्ठ मंत्रों में से एक है। यत्र तत्र इसका पुनः पुनः उद्धरण दिया जाता है। इस प्रेरणाप्रद मंत्र को कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

दिव्यामृत : गुरुदेव यमाचार्य समस्त मनुष्यों का उद्बोधन करते हैं। हे मनुष्यो, अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए कब तक दुःख में करुण क्रन्दन करते रहोगे? क्लेश, भय और चिन्ता से ग्रस्त रहकर कब तक असहाय होकर नाना प्रकार के संकटों को भोगते रहोगे? तुम अमृतपुत्र हो। अपने मूल दिव्य स्वरूप को भूलने के कारण भटक रहे हो। तुम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के अंश हो, स्वयं भी आनन्दस्वरूप हो। समस्त क्लेश, भय और चिन्ता को अज्ञान के कारण ओढे हुए हो। उठो, जागो, सचेत हो जाओ। क्षणभर में दुःख के आवरण को उतार फेंको। यह मिथ्या है, मात्र भ्रम है, अयथार्थ है, कल्पनाप्रसूत है। हे मनुष्यो, अपने दुःख के लिए भगवान् और भाग्य को तथा अन्य जन को दोष देने से क्या लाभ होगा ? मनुष्य अपने दुःख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होता है तथा वह अपने भाग्य और भविष्य का निर्माण भी स्वयं ही करता है।

जीवन ही परमात्मा की सबसे बड़ी देन है, किन्तु मनुष्य अपने समय और शक्तियों के दुरुपयोग से उन्हें न केवल नष्ट कर देता है, बल्कि उन्हें भी दुःख का कारण बना लेता है।

मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है और लक्ष्य-प्राप्ति का पथ क्या है ? लक्ष्य

---

१. स्वामी विवेकानन्द ने इस मंत्र के आधार पर ही सन्देश दिया था—Arise, awake and stop not till the goal is reached. उन्होंने भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन के उद्बोधन '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप**' (गीता, २.३) को गीता का प्रतिपाद्य कहा था। हे अर्जुन, निकृष्ट मानसिक दुर्बलता को छोड़कर उठ खड़ा हो—यह गीता का उद्बोधन मानवमात्र के लिए है।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः (गीता, २.३७)

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत (गीता, ४.४२)

तस्मात् त्वं उत्तिष्ठ (गीता, ११.३३)

को भूलकर मनुष्य भटक जाता है तथा शान्ति के मार्ग को छोड़कर अशान्ति की ओर चल पड़ता है।

हे मनुष्यों, तुम अमृतपुत्र हो, स्वयं अमृतमय हो। तुम आनन्द-प्राप्ति के पूर्ण अधिकारी हो।

उठो, जागो। उन महापुरुषों के पास जाओ, जिन्होंने श्रेष्ठ पथ पर चलकर परमतत्त्व को प्राप्त किया है।[१] उनके पास सच्ची जिज्ञासा और श्रद्धा लेकर जाओ तथा उनसे मार्गदर्शन और प्रेरणा लेकर लक्ष्य की ओर चल पड़ो तथा तब तक न रुको, जब तक लक्ष्य-प्राप्ति न कर लो।

उस पथ पर चलना ऐसा ही कठिन है, जैसे तलवार की धार पर चलना। उसे लाँघना अत्यन्त कठिन है। इसी कारण उस पथ को बुधजन दुर्गम कहते हैं।

वास्तव में उस लक्ष्य और पथ को अपने भीतर ही खोजना और प्राप्त करना है। अन्तर्मुखी होकर जीवन के आनन्दमय स्रोत की खोज अपने भीतर ही करना चाहिए। आनन्द की खोज के लिए बहिर्जगत् में भटकने से समय और शक्ति का क्षय ही होगा।

बहिर्जगत् में कर्म है तथा व्यवहार है। जो मनुष्य मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में कर लेता है तथा मन को बुद्धि एवं विवेक से नियंत्रित कर लेता है, वह धन्य है। वास्तव में, बुद्धि अपने भीतर परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर परमात्मा में ही निमग्न हो जाती है और दिव्य हो जाती है।

हे मनुष्यो, परमदेव से प्रार्थना करो कि तुम्हारी बुद्धि कुमार्ग से हटकर सन्मार्ग पर चलती रहे और परमात्मा की प्राप्ति का उपकरण बन जाय तथा तुम्हारे जीवन में अक्षय आनन्द की प्रस्थापना हो जाए। भीतर प्रकाश और आनन्द की अनुभूति होने पर, यह विश्व परमात्मा से परिपूर्ण और आनन्दमय सिद्ध हो जाएगा। वास्तव में विश्व परमात्मा से परिपूर्ण और आनन्दपूर्ण ही है, किन्तु दृष्टिदोष के कारण दुःखमय प्रतीत होता है।[२] महापुरुषों के प्रसाद से तथा भगवान् की कृपा से बुद्धि पवित्र और प्रेमपूर्ण हो जाती है, दृष्टि शुद्ध हो जाती है और सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। उठो, जागो, अनुभवी महापुरुषों के पास श्रद्धापूर्वक जाओ और

---

१. **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता, ४.३४) अर्थात् भली प्रकार अभिवादन, सेवा और निष्कपट प्रश्नों द्वारा ज्ञान प्राप्त करो। तत्त्वदर्शी उपदेश करेंगे।

२. **नयन दोष जा कहँ जब होई, पीत बरन ससि कहुँ कह सोई।**

लक्ष्य को प्राप्त कर जीवन को कृतार्थ कर लो, कृतकृत्य हो जाओ। दुर्गम पथ सुगम हो जाएगा तथा लक्ष्य सुलभ हो जाएगा।

भगवत्प्राप्त महापुरुष अपने अन्तःकरण में जागरण की अवस्था में ही रहते हैं। जागरण ही तो जीवन है। जब जागे, तभी सवेरा।

जब सब मोहनिशा में सोते हैं, प्रज्ञावान् उसमें जागता रहता है।[1] जागते रहनेवाले महापुरुष का ही वेद-ऋचाएँ वरण करती हैं तथा उसका गान करती हैं।[2]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ १५॥

शब्दार्थ : यत् = जो; **अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम, अरसम् च अगन्धवत्** (अस्ति) = शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित (है); **तथा अव्ययम् नित्यम् अनादि अनन्तम्** = तथा अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (है); **महतः परम्** = महत्तत्व (समष्टि बुद्धि अथवा अव्यक्त प्रकृति) से भी परे (है); **ध्रुवम्** = ध्रुव तत्त्व है; **तत् निचाय्य** = उस (परमात्मा) को जानकर; **मृत्युमुखात्** = मृत्यु के मुख से; **प्रमुच्यते** = मुक्त हो जाता है।

---

१. **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता, २.६९)
मोह निसा सबु सोवनिहारा, देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
एहि जग जामिनि जागहि जोगी, परमारथी प्रपंच वियोगी।
जानिय तबहिं जीव जग जागा, जब सब विषय विलास विरागा। – रामचरित मानस
उसे जागा हुआ समझो, जो विषय-विलास में विरक्त हो।
सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै। दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै॥
(आनन्द के अश्रु बहाता है।)
नींद निसानी नीच की, उठो कबीरा जागि।
और रसायन छोड़कर राम रसायन लागि॥

२. **यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।**—ऋग्वेद, ५.४४.१४
''नास्ति जाग्रतो भयम्'' (बुद्ध)—जगनेवाले को भय नहीं होता।
अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं (विनयपत्रिका)
—हे भगवन्, अब तक तो जीवन का नाश किया, अब इसका नाश नहीं करूँगा। भगवान् की कृपा से संसाररूपी रात्रि (अज्ञान की रात्रि) बीत गई है। अब जागने पर माया के बिछौने को नहीं बिछाऊँगा।

वचनामृत : जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त है, (जो) महत्तत्व (समष्टि बुद्धि अथवा प्रकृति) से भी परे अर्थात् उच्च एवं सूक्ष्म हैं, जो ध्रुव तत्त्व है, उस परब्रह्म को जानकर (मनुष्य) मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

सन्दर्भ : पूर्ववर्ती मंत्र १४ में ब्रह्म-प्राप्ति को दुर्गम कहा है। दुर्गमता का कारण ब्रह्म की सूक्ष्मता है। प्रस्तुत मंत्र में परमात्मा के सूक्ष्म स्वरूप की विवेचना है।

दिव्यामृत : विश्व की धारक एवं संचालक दिव्य सत्ता अनिर्वचनीय है। उसे किसी परिभाषा अथवा वर्णन से सीमित करना संभव नहीं है। वास्तव में वह मनुष्य की अल्पबुद्धि से ग्राह्य नहीं है तथा उसे शब्दों में बद्ध नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है तथा इन्द्रियाँ उसका ग्रहण नहीं कर सकतीं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं। श्रोत्र का विषय शब्द है, त्वक् का विषय स्पर्श है, चक्षु का विषय रूप है, रसना का विषय रस है तथा घ्राण का विषय गन्ध है। सांख्य-दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है तथा महत् तत्त्व से अहंकार और अहंकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच तन्मात्रा अथवा सूक्ष्म महाभूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) उत्पन्न होते हैं। परमात्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है। वह अविनाशी है तथा नित्य (सदा रहनेवाला, शाश्वत),अनादि और अनन्त है। वह महत् तत्त्व से परे अथवा अधिक सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। वह ध्रुव अर्थात् कूटस्थ (स्थिर) सत् तत्त्व है। उस परमात्मा को इन्द्रियों, मन और बुद्धि से अग्राह्य, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त और ध्रुव जानकर, मनुष्य सांसारिक विषयों के आकर्षण एवं अविद्या से मुक्त हो जाता है तथा दिव्यभाव में स्थित होकर मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है।[१] तत्त्वज्ञानी अपने भीतर निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करके आत्मा (परमात्मा) के निर्विकल्प स्वरूप को जान लेता है, उसमें स्थित हो जाता है।

अज्ञानी मनुष्य नश्वर देह के विनाश को अपनी मृत्यु मान लेता है तथा ज्ञानी पुरुष देहाध्यास छोड़कर (मैं देह हूँ, यह भाव तथा देहासक्ति छोड़कर),

---

१. **हम न मरैं, मरिहै संसारा, हम कु मिला जियावन हारा**—कबीर
बाणभट्ट ने अपनी जीवनगाथा में मनुष्यों को यज्ञ की आहुति बनने तथा माताओं, बहनों, बेटियों और उत्तम चरित्रवाले ललनाओं की रक्षा के लिए यातना सहने तथा प्राणों का बलिदान देने की प्रेरणा दी है।

देहातीत (देह से परे) हो जाता है तथा मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। मृत्यु का भय मिथ्या है। मनुष्य की शक्ति का शोषक एवं महान् शत्रु भय ही है तथा मृत्यु का भय तो भयराज है। श्रेष्ठ पुरुष मृत्यु का भय त्यागकर श्रेष्ठ कर्म करते हैं तथा श्रेष्ठ आदर्शों के लिए प्राणों की आहुति दे देते हैं। मृत्यु के भय को त्यागकर, मनुष्य सभी भयों से मुक्त हो जाता है तथा अजेय हो जाता है। मनुष्य तो अमृतपुत्र है, किन्तु मृत्यु के भय से कायर हो जाता है और श्रेष्ठ आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों की अवहेलना कर देता है।

उठो, जागो। समस्त भय त्यागकर, अपने अमृतस्वरूप के अनुरूप आचरण करने का संकल्प लो। निष्काम एवं निर्भय हो जाओ।[१]

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

शब्दार्थ : मेधावी = बुद्धिमान् पुरुष; **मृत्युप्रोक्तम्** = मृत्यु के देवता से कहे हुए; **नाचिकेतम् सनातनम् उपाख्यानम्** = नचिकेता के सनातन उपाख्यान को; **उक्त्वा च श्रुत्वा** = कहकर और सुनकर; **ब्रह्मलोके महीयते** = ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

वचनामृत : बुद्धिमान् पुरुष मृत्यु के देवता से प्रोक्त नचिकेता-संबंधी उपाख्यान को कहकर और सुनकर ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

सन्दर्भ : यह नचिकेता-संबंधी उपाख्यान का माहात्म्य है।

दिव्यामृत : किसी श्रेष्ठ उपदेश अथवा उपाख्यान के पश्चात् उसके माहात्म्य को उसके पूरक के रूप में कहा जाता है।

साक्षात् मृत्यु के देवता यमराज ने स्वयं नचिकेता-संबंधी उपाख्यान को कहा है। वास्तव में वह यमराज के रूप में यमाचार्य का उपदेश है।

मृत्यु पर अर्थात् मृत्यु के भय पर आत्मज्ञान द्वारा विजय प्राप्त करानेवाला मृत्यु का देवता स्वयं यमराज ही यमाचार्य गुरु है। विवेकदायिनी गुरु मृत्यु ही मानो मृत्यु के भय से मुक्ति का उपदेश देने में सक्षम है।

यह उपदेश भी नया नहीं है तथा सनातन अर्थात् परम्परागत है। इसे कहने और सुननेवाला मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमान्वित हो जाता है। ब्रह्म स्वयं ही

---

१. **तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति** (प्रश्न उप०, ६.६)
—जानने योग्य परमात्मा को जानना चाहिए, जिससे हे मनुष्यों, तुम्हें मृत्यु दुःख न दे सकेगी। मृत्यु से मत डरो।
भगवद्गीता में मृत्यु का भय त्याग देने का अनेकशः उपदेश है।

ब्रह्मलोक है।[१] ब्रह्म में प्रतिष्ठित होना मानो ब्रह्मलोक में महिमान्वित होना अथवा गौरव प्राप्त करना है।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।
तदानन्त्याय कल्पते॥ १७॥

शब्दार्थ : यः = जो; **प्रयतः** = शुद्ध होकर; **इमम् परमम् गुह्यम्** = इस परमगुह्य (रहस्यमय प्रसङ्ग) को; **ब्रह्मसंसदि** = ब्रह्म-चर्चा की सभा में; **श्रावयेत्** = सुनाता है; **वा श्राद्धकाले (श्रावयेत्)** = अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है; **तत् आनन्त्याय कल्पते** = वह अनन्त होने में समर्थ होता है। **तत् आनन्त्याय कल्पते** = वह अनन्त होने में समर्थ होता है।

वचनामृत : जो मनुष्य शुद्ध होकर इस परमगुह्य प्रसङ्ग को ज्ञानी जन की सभा में सुनाता है अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है, वह अनन्त होने में समर्थ हो जाता है, वह अनन्त होने में समर्थ हो जाता है।

सन्दर्भ : कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के अन्त में माहात्म्य को पुनः कहा गया है। मंत्र के अन्त में अन्तिम शब्दों की पुनरावृत्ति करना अध्याय की समाप्ति का सूचक होता है।

दिव्यामृत : ब्रह्मविद्या का उपदेश अमृतमय होता है तथा इस विद्या की चर्चा केवल जिज्ञासु एवं श्रद्धामय सात्त्विक पुरुषों के मध्य में, किसी उत्तम समागम के अवसर पर ही करनी चाहिए, ब्रह्मज्ञान की चर्चा शुद्ध होकर ही की जानी चाहिए। अशुद्ध होकर अथवा अशुद्धता के वातावरण में इसकी चर्चा करना निषिद्ध है।

यम-नचिकेता उपाख्यान को कहना एक पुण्यकर्म है। पवित्र श्राद्धकाल में इसके कथन एवं श्रवण का विशेष महत्त्व होता है। इसके कहने का तो अनन्त फल होता ही है, इसका कहनेवाला स्वयं भी एतद् द्वारा अनन्त को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अमर हो जाता है।

यह अमृतमय उपाख्यान परमगुह्य (गोपनीय) है तथा केवल उत्तम अधिकारी अर्थात् सत्पात्र को ही इसका श्रवण कराना चाहिए।[२] अनधिकारी व्यक्ति अर्थ

---

१. **ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः** (शङ्कराचार्य)
बृहत्वात् ब्रह्म—बृहत् होने से परमात्मा ब्रह्म कहलाता है।

२. **गुह्यं** (कठोप०, २.२.६),
श्रुतं मे गोपाय (तै० उप०, १.४)
गुह्य, गुह्यतम (गीता, ९.१, १५.२०, १८.६३, ६४, ६८, ७५)

का अनर्थ कर देते हैं तथा उत्तम विद्या को लांछित एवं निन्दित कर देते हैं। अधिकारी पुरुष ही उत्तम उपदेश को ग्रहण करते हैं।[१]



१. **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम्।** (निरुक्त, २.१.४)
—विद्या ने पुकारकर कहा—अनधिकारी पुरुष को मुझे मत दे देना. जिससे मैं शक्तिशाली बनी रहूँ।
अधिकारी पुरुष—गीता (१८.६७), मुण्डक उप० (१.२.१२, ३.२.१०) इत्यादि।
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति
(सुबाल उप०, ९.१४)
अधिकारी तु… नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता—वेदान्तसार

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

शब्दार्थ : स्वयंभूः = स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वर ने; **खानि** = समस्त द्वारों को, इन्द्रियों को, (**ख**-छिद्र अर्थात् उनसे उपलक्षित इन्द्रियाँ); **पराञ्चि** = बाहर जानेवाले, बहिर्मुखी; **व्यतृणत्** = बनाया है (मानो उनके प्रति हिंसा की है); **तस्मात्** = इसीलिए; **(मनुष्यः) पराङ्पश्यति** = (मनुष्य) बाहर देखता है; **अन्तरात्मन् न** = अन्तरात्मा को नहीं (देखता); **अमृतत्वम् इच्छन् कश्चित् धीरः** = अमृतत्व (अमरपद) की इच्छा करता हुआ कोई धीर (बुद्धिमान् पुरुष); **आवृत्तचक्षुः** = अपने चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर, रोककर; **प्रत्यगात्मा** = प्रत्यग् (सम्पूर्ण विषयों को जाननेवाला) आत्मा; **प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्** = अन्तःस्थ आत्मा को देख पाता है।

वचनामृत : स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों को बाहर (विषयों की ओर) जानेवाली बनाया है। इसीलिए (मनुष्य) बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। अमृतत्व की इच्छा करनेवाला कोई एक धीर अपने चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर अन्तःस्थ आत्मा को देख पाता है।

सन्दर्भ : यह कठोपनिषद् का सर्वाधिक प्रसिद्ध मंत्र है।

दिव्यामृत : मनुष्य मूलतः दिव्य है तथा उसका जीवात्मा आनन्दस्वरूप परमात्मा का अंश है। अंशी और अंश एक ही होते हैं, जैसे जल और जलकण अथवा सिन्धु और बिन्दु। परमात्मा मनुष्य के भीतर ही हृदयक्षेत्र में सूक्ष्म रूप से विराजमान है। वही जीवन का स्रोत एवं आधार है। मनुष्य आनन्दमय होने का पूर्ण अधिकारी है किन्तु वह उसकी अवहेलना करके संसारचक्र में फँसा रहता है तथा दुःखी रहता है।

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ देह के ऐसे छिद्र अथवा द्वार हैं, जो बाहर की ओर देखते हैं।[1] ज्ञानेन्द्रियाँ संसार के भोगपदार्थों अथवा अपने विषयों की ओर दौड़ती

---

१. **'इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना'**

हैं तथा वे मन को भी बरबस उधर ही ले जाती हैं। विवेकशील मनुष्य की बुद्धि अपने भीतर ही संस्थित परमात्मा से प्रकाश एवं मार्गदर्शन लेकर मन को निगृहीत कर लेती है और मन इन्द्रियों को वश में कर लेता है।[1]

धीर पुरुष अमृतत्व अर्थात् दिव्य आनन्द की इच्छा से प्रेरित होकर ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से लौटाकर अथवा उन्हें रोककर अपने प्रत्यग् आत्मा को अर्थात् अपने अन्तःस्थ आत्मा को देख पाता है और आनन्दमग्न हो जाता है। वह प्रेयमार्ग को छोड़कर श्रेयमार्ग का अनुसरण करता है। वह बुद्धि द्वारा भले और बुरे, उचित और अनुचित तथा नित्य और अनित्य पर विचार करता है तथा विवेक द्वारा निर्णय करके कल्याणप्रद मार्ग का आश्रय ले लेता है तथा आनन्द प्राप्त कर लेता है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

शब्दार्थ : **बालाः** = मूर्खजन; **पराचः कामान् अनुयन्ति** = बाह्य भोगपदार्थों का अनुसरण करते हैं; **ते** = वे; **विततस्य मृत्योः पाशम् यन्ति** = सर्वत्र विस्तृत मृत्यु (विनाश) के बन्धन को प्राप्त हो जाते हैं, बन्धन में पड़ जाते हैं; **अथ** = तथा, किन्तु; **धीराः** = विवेकशील पुरुष; **ध्रुवम् अमृतत्वम् विदित्वा** = ध्रुव (नित्य, शाश्वत) अमृतत्व (अमरपद, आनन्दपूर्णता) को जानकर; **इह अध्रुवेषु न प्रार्थयन्ते** = यहाँ (इस संसार में) अनित्य भोगों में से (किसी भोग की भी) प्रार्थना अथवा कामना नहीं करते।

वचनामृत : अविवेकीजन बाह्य भोगों का अनुसरण करते हैं। वे सर्वत्र विस्तीर्ण मृत्यु के बन्धन में पड़ जाते हैं, किन्तु धीर पुरुष ध्रुव अमृतपद को जानकर इस जगत् में अध्रुव (अनित्य, नश्वर) भोगों में से किसीको भी (भोग की) कामना नहीं करते।

सन्दर्भ : धीर पुरुष परमात्मा को जानकर भोगों में लिप्त नहीं होते। यह मंत्र प्रथम मंत्र का पूरक है।

दिव्यामृत : अविवेकी मनुष्य बहिर्मुख इन्द्रियों एवं मन के वशीभूत रहकर बहिर्जगत् के भोगों की प्राप्ति में ही प्रयत्नशील रहते हैं तथा वे राग-द्वेष से उत्पन्न चिन्ता और भय से ग्रस्त रहकर सदा अशान्त एवं दुःखी रहते हैं। वे मानो सर्वत्र विस्तीर्ण मृत्यु के बन्धन में पड़ जाते हैं।

विवेकी धीर पुरुष अन्तर्मुख होकर तथा अपने भीतर संस्थित दिव्य सत्ता को जानकर श्रेष्ठ अमृतपद की ही कामना करते हैं। वे नश्वर पदार्थों की निस्सारता को समझकर उनके आकर्षण में नहीं फँसते।

---

१. **हो बुद्धि जौं परम सयानी, तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।**

धीर पुरुष उच्चतर जीवन की ओर अग्रसर रहने में अपनी कृतार्थता का अनुभव करते हैं तथा अल्पबुद्धि मनुष्य इन्द्रियों के विषयों का अनुसरण करते रहने में शक्ति का क्षय कर देते हैं और उच्चतर जीवन के आनन्द से वंचित रह जाते हैं।

विवेकशील पुरुष बाह्य जगत् के मिथ्या आकर्षणों से प्रलुब्ध नहीं होता तथा उसकी दृष्टि लक्ष्य पर स्थिर रहती है। वह भोगनदी को कुशलतापूर्वक पार कर लेता है तथा उसमें निमग्न नहीं हो जाता। मात्र दैहिक भोगों में लिप्त रहना बुद्धिशून्य पशु का लक्षण होता है। सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न पुरुष चिन्तनशील होता है। वह भोगों के मध्य में रहकर भी उनमें लिप्त नहीं होता तथा शनैः शनैः भोगवृत्ति से निवृत्त होकर जीवन के उच्चतर स्तरों की ओर बढता ही रहता है। वह अपने भीतर दिव्यभाव को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर रखनेवाला मनुष्य कभी भटकता नहीं है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद् वै तत्॥ ३॥

शब्दार्थ : येन = जिससे; **शब्दान् स्पर्शान् रूपम् रसम् गन्धम् च मैथुनान्** = शब्दों, स्पर्शों, रूप, रस, गन्ध और स्त्री-प्रसंग को अर्थात् इनके सुखों को; **विजानाति** = जानता है, अनुभव करता है; **एतेन एव** = इसीसे (इसी के प्रताप से) ही (जानता है); **अत्र किम् परिशिष्यते** = कौनसा ऐसा पदार्थ जो यहाँ (इस जगत् में) अवशिष्ट रह जाता है। (जिसे आत्मा से नहीं जाना जा सकता है), (अथवा, आत्मा को जानने पर क्या जानना शेष रह जाता है ?) **एतद् वै तत्** = यही तो वह है।

वचनामृत : (मनुष्य) जिस (आत्मा) से शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और स्त्री-प्रसंग (के सुख को) जानता है, (वह) इसी (आत्मा) से ही तो जानता है। इस जगत् में कौनसा पदार्थ शेष रह जाता है (जिसे आत्मा नहीं जानता ?)[१] यही तो वह है (जिसे तुमने पूछा है)।

सन्दर्भ : इस मंत्र में तथा आगामी मंत्रों में '**एतद् वै तत्**' कहा गया है।

---

१. '**किमत्र परिशिष्यते**' का एक अर्थ है—परमात्मा को जानने पर जगत् में क्या शेष रह जाता है, अर्थात् जगत् के अधिष्ठान परमात्मा को जानने पर कुछ जानना शेष नहीं रहता। **एतत् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्** (श्वेत० उप०, १.१२) अर्थात् यह परमात्मा ही एक ज्ञेय है, जो हमारे भीतर संस्थित है। इससे बढकर जानने योग्य तत्त्व कुछ भी नहीं है—ऐसा अनेक उपनिषदों में कहा गया है। **स वा अयमात्मा ब्रह्म** (बृ० उप०, ४.४.५)

इनमें परमात्मा के अनेक वर्णन हैं। ये सब मंत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। वास्तव में अध्याय २ की संपूर्ण प्रथम वल्ली एक ही सूत्र में ग्रथित है।

दिव्यामृत : मनुष्य के भीतर संस्थित आत्मा (जिसे समीपता के कारण और भीतर होने के कारण प्रत्यगात्मा भी कहते हैं) परमात्मा का ही अंश है तथा अंशी और अंश के सिन्धु और बिन्दु के सदृश एक होने के कारण, वह स्वयं परमात्मा ही है। उसके देह में विराजमान होने पर देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सक्रिय होते हैं तथा उसके निर्गत होने पर देह जड एवं निष्क्रिय हो जाता है। मनुष्य आत्मा के देह में संस्थित होने के कारण, इन्द्रियों के विषय-ग्रहण द्वारा शब्द सुनता है, स्पर्श का अनुभव करता है, रूप को देखता है, रस का और गन्ध का अनुभव करता है। मनुष्य आत्मा के अस्तित्व के कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सुख को जानता है। इस आत्मा से जगत् में कौनसे पदार्थ को जाना नहीं जा सकता ? सभी कुछ आत्मा से ही जाना जा सकता है। (अथवा परमात्मा को जान लेने पर जगत् में क्या अन्य जानना शेष रह जाता है, क्योंकि वह जगत् का अधिष्ठान है ?)

यमाचार्य नचिकेता से कहते हैं—यही वह आत्मा है, जिसे तुम जानना चाहते हो। इसे सर्वप्रथम ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति के स्रोत के रूप में समझो।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥

शब्दार्थ : स्वप्नान्तम् = स्वप्न के मध्य में (दृश्यों को); **च** = और; **जागरितान्तम्** = जाग्रत्-अवस्था में (दृश्यों को); (वैदिक साहित्य में 'अन्त' का अर्थ अन्तिम छोर नहीं, अवस्था है। बृहद० उप० में भी स्वप्नान्त का यही अर्थ है)। **उभौ** = दोनों (दोनों के दृश्यों को); **येन** = जिससे; **अनुपश्यति** = पुनः पुनः देखता है; **महान्तम् विभुम् आत्मानम् मत्वा** = महान् सर्वव्यापक आत्मा को जानकर; विभु एकदेशीय नहीं, सर्वव्यापी होता है, देश और काल से परिच्छिन्न नहीं होता है। **धीरः न शोचति** = धीर (बुद्धिमान् पुरुष) शोक (भय, चिन्ता, क्लेश) नहीं करता।

वचनामृत : मनुष्य स्वप्न के मध्य में, जाग्रत्-अवस्था में, इन दोनों अवस्थाओं में जिसके प्रताप से (दृश्यों को) देखता है, (उस) महान् सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) को जानकर धीर (बुद्धिमान् पुरुष) शोक (चिन्ता आदि) नहीं करता।

सन्दर्भ : परमात्मा को जानकर मनुष्य शोक अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाता है।

दिव्यामृत : परमात्मा की सत्ता का अनुभव मनुष्य को स्वप्न और जाग्रत्-अवस्था में दृश्यों पर गहन विचार के द्वारा हो सकता है। सुषुप्ति में तो जीवात्मा

तथा मन एवं बुद्धि की लयावस्था होती है।[1] स्वप्न और जाग्रत्-अवस्था में मनुष्य अपने भीतर संस्थित सचेतन आत्मा के कारण ही अनेक दृश्यों को देखता है। वास्तव में मनुष्य के भीतर साक्षिरूप में विराजमान आत्मा सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वव्यापी परमात्मा ही है। उसे जानकर धीर (बुद्धिमान् पुरुष, जो आत्मा पर दृष्टि स्थिर रखता है तथा जगत्प्रपञ्च में नहीं फँसता) संसार के सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है अर्थात् उनसे ऊपर उठ जाता है। वह निरन्तर आनन्दावस्था में रहता है। वह किसी प्रकार का शोक (अर्थात् दुःख, भय और चिन्ता) नहीं करता।[2]

बन्धनमुक्त पुरुष भोगासक्त नहीं होता तथा संसार के भौतिक प्रपंच में लिप्त नहीं होता। वह अन्तर्मुखी रहकर लक्ष्यस्वरूप आत्मा पर दृष्टि स्थिर रखता है तथा निष्कामभाव से अन्तःप्रेरणा के अनुसार कर्म करता है। वास्तव में कर्तृत्व के अहंकार (मैं कर्त्ता हूँ, यह अहंकार) से मुक्त रहनेवाला परम बुद्धिमान् पुरुष कर्म करके भी मानो कुछ नहीं करता। उसका कर्म कर्माभास होता है, कर्म नहीं होता। अतएव वह पुण्य-पाप, सुख-दुःख, हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है। यह दिव्य जीवन होता है।[3]

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद् वै तत्॥ ५॥

शब्दार्थ : यः = जो; **मध्वदम्** = कर्मफलभोक्ता; **मधु अदम्** = अमृतभोगी (आनन्द का भोक्ता); **जीवम्**[4] = प्राणादि के धारयिता (परमात्मा) को; **अन्तिकात्** = उसके समीप में रहने से, समीप से, भली प्रकार; **भूतभव्यस्य ईशानम्** = भूत, भविष्यत् (और वर्तमान) के शासक के रूप में; **इमम् आत्मानम्** = इस

---

१. माण्डूक्य आदि अनेक उपनिषदों में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की विशद विवेचना की गई है।

२. समस्त उपनिषदों तथा भगवद्गीता में अनेक स्थलों पर धीर के लिए '**वीतशोक**', '**न शोचति**', '**मा शुचः**' आदि कहा गया है। उनकी गणना करना कठिन है। 'धीर' शब्द का उपयोग भी अगणित स्थानों पर किया गया है।

३. **तरति शोकं आत्मवित्** (छा० उप०, ७.१.३)—आत्मा को जाननेवाला शोक को पार कर लेता है। अन्य उपनिषदों से भी इसे अनेक प्रकार से कहा गया है। केन उपनिषद् (१.२) में भी इसी भाव की विवेचना है।

४. 'जीव' यहाँ जीवात्मा का सूचक नहीं है, परमात्मा का ही सूचक है, क्योंकि परमात्मा ही भूत, भविष्य का शासक होता है। यहाँ प्रकरण भी आत्मा (परमात्मा) का ही है। (ब्रह्मसूत्र, १.३.२४ का शाङ्करभाष्य)

परमात्मा को; **वेद** = जानता है; **ततः न विजुगुप्सते** = फिर, ऐसा जानने के बाद भय, घृणा नहीं करता; **एतद् वै तत्** = निश्चय ही यह आत्मतत्त्व है।

वचनामृत : जो मनुष्य मध्वद (कर्मफलभोक्ता, आनन्दभोक्ता, अमृतभोगी), प्राणादि के धारयिता जीव (जीवन के स्रोत परमात्मा) को समीप से (भली प्रकार) भूत, भविष्यत् के शासन करनेवाले को, इस परमात्मा को, जान लेता है, वह ऐसा जानने के पश्चात् भय, घृणा नहीं करता। निश्चय ही यही तो वह आत्मतत्त्व है (जिसे तुम जानना चाहते हो)।

सन्दर्भ : इस दुरूह मंत्र के अनेक अर्थ किए गए हैं। इसमें आत्मा की चर्चा कई प्रकार से की गयी है।

दिव्यामृत : सम्पूर्ण विश्व की संचालक एवं धारक सत्ता एक परमात्मा ही है। मनुष्य के देह के भीतर निर्मल बुद्धि में उसके प्रतिबिम्बित रूप को जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा स्वयं ही अमृतभोगी तथा कर्मफलदाता है तथा जीवात्मा के रूप में वही कर्मफलभोगी है। अपने मूल स्वरूप में जीवात्मा भी शुद्ध, बुद्ध परमात्मा ही है।

परमात्मा मायोपाधिसहित ईश्वर के रूप में भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासन करनेवाला है। जो अपने भीतर ही अपने समीप में रहनेवाले आत्मा को भली प्रकार जान लेता है, उसे भय नहीं रहता। अपने आत्मा को भली प्रकार से जानने पर मनुष्य किसीसे भय नहीं मानता। आत्मा की सत्ता बुद्धि और मन के माध्यम से देह और इन्द्रियों को सचेष्ट कर देती है। आत्मा अपने भीतर स्थित है और सन्निकट है।

आत्मा अमृतभोगी है, जीवन का धारक है, सदा ही सन्निकट है और भूत एवं भविष्यत् का स्वामी है तथा उसे जाननेवाला न घृणा करता है और न भय मानता है।

यही तो वह आत्मा है, जिसे नचिकेता जानना चाहता है।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद् वै तत् ॥६॥

शब्दार्थ : यः = जो मनुष्य; **अद्भ्यः पूर्वम् अजायत** = (उसे) जो जल से पूर्व प्रकट हुआ था; **यः तपसः पूर्वम् जातम्** = जो तप से पूर्व प्रकट हुआ था; **गुहाम् प्रविश्य** = हृदयरूप गुहा में प्रवेश करके; **भूतेभिः (सह) तिष्ठन्तम्** = भूतों के साथ स्थित; **व्यपश्यत** = देखता है; **एतद् वै तत्** = यह ही वह आत्मा है।

वचनामृत : जो मनुष्य सर्वप्रथम तप से उत्पन्न हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा, समष्टि बुद्धि) को, जो कि जल आदि (भूतों) से पूर्व उत्पन्न हुआ, भूतों के सहित हृदयरूप गुहा में संस्थित देखता है, वही उसे देखता है। यही तो आत्मा है।

सन्दर्भ : आत्मा के यत्र तत्र जो भी ज्ञानी पुरुषों द्वारा विभिन्न वर्णन हुए हैं, उन अनेक वर्णनों को इन मंत्रों में कहा गया है कि यही आत्मा है। इस मंत्र के अन्वय और अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं।

दिव्यामृत : यमाचार्य नचिकेता से कह रहे हैं कि ज्ञानी पुरुषों ने एक ही आत्मा को अनेक प्रकार से समझाया है तथा उसे भ्रान्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे एक ही आत्मा के अनेक वर्णन हैं। जो विवेकशील पुरुष है वह जानता है कि हृदयगुहा में संस्थित आत्मा एक ही है, यद्यपि उसे समझाने के लिए वर्णन अनेक हैं। अपने तप अर्थात् संकल्प से सृष्टि के प्रारंभ में परमात्मा, जल आदि महाभूतों से भी पूर्व ही, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुआ, जिससे सृष्टि का उद्भव हुआ है। वह परमात्मा जो अपने संकल्प से हिरण्यगर्भ के रूप में, पञ्चमहाभूतों से भी पूर्व, प्रकट हुआ, प्राणियों के हृदयरूप गुहा में इन्द्रिय आदि भूतों (अन्त:करण) सहित प्रविष्ट[1] हो गया। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ भी भूतों से ही बनी हैं।

जो मनुष्य अपने आत्मा को इस प्रकार से हृदय-गुहा में प्रविष्ट जानता है, वही वास्तव में ठीक जानता है। सबके हृदय में विराजमान, सबका अन्तर्यामी परमात्मा एक ही है। यह अन्त:प्रविष्ट आत्मा ही तो वह है, जिसे नचिकेता जानना चाहता है।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत॥ एतद् वै तत्॥ ७॥

शब्दार्थ : या देवतामयी अदितिः (अदनात् अदितिः) प्राणेन संभवति = जो देवतामयी अदिति (खानेवाली शक्ति) प्राणों के साथ उत्पन्न होती है; **या भूतेभिः व्यजायत** = जो प्राणियों के सहित उत्पन्न हुई है; **गुहाम् प्रविश्य तिष्ठन्तीम्** = हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट होकर संस्थित को (जो ज्ञानी जानता है, वही यथार्थ जानता है); **एतद् वै तत्** = यह ही वह है (जिसे तुम जानना चाहते हो)।

वचनामृत : जो सर्वदेवतामयी अदितिदेवी प्राणों के साथ उत्पन्न होती है, जो प्राणियों के सहित उत्पन्न हुई, जो हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित रहती है, (उसे जो ज्ञानी पुरुष देखता है, वही यथार्थ देखता है)। यह ही वह है (जिसे तुम जानना चाहते हो)।

सन्दर्भ : यहाँ अन्य प्रकार से आत्मतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है।

---

१. आत्मा के प्रविष्ट होने के संबंध में उपनिषदों में अनेक मंत्र हैं।

इस मंत्र के अनेक अर्थ किए गए हैं। 'अदिति' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है।

दिव्यामृत : यमाचार्य नचिकेता को प्रचलित धारणाओं की पुनर्व्याख्या करते हुए समझाते हैं कि अनेक प्रकार से वर्णित सभी शक्तियाँ उसी एक परम सत्ता की द्योतक हैं। अदिति देवताओं की माता अर्थात् एक दिव्य शक्ति के रूप में वर्णित है।[१] उसे आदित्यों की माता अर्थात् शक्तिस्वरूपा भी कहा गया है।

सर्वदेवस्वरूपा अर्थात् दिव्य शक्ति प्राणों से प्रकट होती है अर्थात् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होती है। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) परमात्मा की प्रथम सृष्टि है, जिसे जीवात्माओं की समष्टि भी कहा गया है। अदिति बुद्धि में प्रविष्ट होती है।

मनुष्य की जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था में बुद्धि सक्रिय रहती है तथा बुद्धि के सक्रिय होने पर भूख-प्यास लगते हैं। अदिति मानो विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का अदन (भक्षण, भोग ग्रहण) करती है। सुषुप्ति में बुद्धि सक्रिय नहीं रहती तथा भूख-प्यास नहीं रहते और विषयों का भोग (ग्रहण) नहीं होता। हृदय-गुहा में स्थित बुद्धि में रहनेवाली तथा पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के सहित अथवा उनसे समन्वित होकर प्रकट होनेवाली अदितिनामक शक्ति ब्रह्म की ही प्रतीक है। ब्रह्म ही तो सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र अथवा आदि स्रोत है।

अदिति परमात्मा की ही एक अचिन्त्य शक्ति है तथा परमात्मा से भिन्न नहीं है। परमात्मा स्वयं को अपनी परा शक्ति अदिति के रूप में भी प्रकट करता है। सब शक्तियों का उद्गम परमात्मा ही है। यही तो परमात्मा है, जिसे नचिकेता ने पूछा है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ एतद् वै तत्॥ ८॥

शब्दार्थ : जातवेदाः अग्निः = सर्वज्ञ अग्निदेव; **गर्भिणीभिः सुभृतः गर्भः इव** = गर्भिणी स्त्रियों द्वारा उत्तम प्रकार से धारण किये हुए गर्भ की भाँति; **अरण्योः निहितः** = दो अरणियों में निहित है; **जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः दिवे दिवे ईड्यः** = जाग्रत् (सावधान, सचेत) हवन करने योग्य सामग्रियों से मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने के योग्य है; **एतद् वै तत्** = यही है वह।

---

१. देवताओं तथा दिव्य प्राणियों को अदितिनन्दन कहा जाता है। दिति राक्षसों और दैत्यों की माता का नाम है। राक्षस को दितितनय कहा जाता है।

वचनामृत : (जो) सर्वज्ञ अग्नि गर्भिणी स्त्री द्वारा भली प्रकार से सुरक्षित गर्भ की भाँति दो अरणियों में निहित है, (वह) सावधान रहकर यज्ञ करनेवाले मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य (अग्नि) है, यही है वह।

सन्दर्भ : अग्नि परमात्मा का वाचक होने के कारण उपासनीय है।

दिव्यामृत : परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से परे होने के कारण इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। वह विराट् चेतना है, जो अदृष्ट, अग्राह्य और अचिन्त्य है तथा वह परिभाषाओं से परे है।[१] अनेक प्रतीकों से उसका संकेत किया जाता है। अग्नि परमात्मा की सचेतन सत्ता की वाचक है। वह मन, प्राण आदि में अन्तर्निहित रहकर ऊपर की ओर आरोहण करती है। अग्नि की अर्चि (लौ, लपट) ऊर्ध्वगामी होती है तथा वह चेतना के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक होती है।

यज्ञों में अग्नि दो अरणियों (उत्तरारणि तथा अधरारणि, ऊपर की अरणि तथा नीचे की अरणि) के मन्थन से प्रज्वलित होती है।

अरणि के भीतर अग्नि ऐसे ही छिपी हुई तथा सुरक्षित रहती है, जैसे कि गर्भिणी स्त्री के उदर में शिशु छिपा हुआ तथा सुरक्षित रहता है।[२] अग्नि सावधान रहकर यज्ञ करनेवाले मनुष्यों के लिए अर्चनीय होती है। जो यज्ञों की अग्नि है वह आत्मज्योति की प्रतीक है। आत्मज्योति ही तो वह परमतत्त्व है, जिसे नचिकेता जानना चाहता है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥ एतद् वै तत्॥ ९॥

शब्दार्थ : यतः च सूर्यः उदेति = जहाँ से सूर्य उदित होता है; **च यत्र अस्तम् गच्छति** = तथा जहाँ अस्त भी होता है; **सर्वे देवाः तम् अर्पिताः** = सब देव उसे समर्पित हैं अथवा उसमें प्रतिष्ठित हैं; **तत् उ कश्चन न अत्येति** = उस परमात्मा को निश्चय ही कोई भी नहीं लाँघ सकता है; **एतद् वै तत्** = यही तो वह है।

वचनामृत : जिससे सूर्य उदित होता है, जिसमें अस्त होता है, सब देव उसे अर्पित हैं। उस परमात्मा को निश्चय ही कोई भी नहीं लाँघ सकता है। यही तो वह है।

---

१. **नेति नेति** (बृहदारण्यक उप०, ४.४.२२)

२. **तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः** (श्वेत उप०, १.१५)
—जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल, अरणियों में अग्नि छिपे हुए हैं, ऐसे ही परमात्मा हृदय में छिपा हुआ है।

सन्दर्भ : यमाचार्य नचिकेता को अनेक प्रकार से बता रहे हैं कि परमात्मा एक ही है, जिसे वह जानना चाहता है।

दिव्यामृत : परमात्मा ही विश्व की सर्वोच्च सत्ता है। यह ज्योतिष्मान् महान् सूर्य उसी दिव्य सत्ता के कारण उदित होता है, संचरण करता है और अस्त होता है। वास्तव में सूर्य परमात्मा से ही उदित होता है तथा उसीमें विलीन होता है।[1] सूर्य, वायु, अग्नि आदि सभी परमात्मा के शासन में स्थित रहते हैं।

परिपूर्ण परमात्मा का ग्रहण अल्पबुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। वह असीम और अनन्त है तथा मनुष्य की बुद्धि सीमित और सान्त है। सूक्ष्मबुद्धि से उसका ग्रहण करने और उसका वर्णन करने में विविधता होना स्वाभाविक है। उसकी उपासना-पद्धतियों में भी वैविध्य होना स्वाभाविक ही है।

इदम् इत्थम् (यह ऐसा ही है) परमात्मा के संबंध में इस प्रकार कोई भी नहीं कह सकता। जिसे उसकी जैसी भी अभिव्यक्ति हुई हो अथवा स्वानुभव हुआ हो, वही उसके लिए अन्तिम प्रमाण है। विवेकशील पुरुष वर्णन की विविधताओं के मूल में एकता का दर्शन करता है।[2]

यह सारा जगत् उसीसे प्रकट होता है तथा उसीमें लीन होता है। सूर्य भी उसीसे उदित होकर उसीमें अस्त होता है। सारे देव उसीमें प्रतिष्ठित हैं तथा वही उनका आधार है। वह सत् है तथा शेष सब असत् अर्थात् नश्वर है।

विश्व की मूल एवं तात्त्विक चैतन्य सत्ता एक ही है। परमात्मा की विविध प्रकाशंमय, तेजोरूप शक्तियों के अनेक प्रतीकात्मक नाम हैं। देवों में परमात्मा की शक्ति ओतप्रोत होती है। इसके अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों की संचालक शक्तियाँ भी देवता कहलाती हैं। नेत्र का देवता सूर्य है।

विश्व की समस्त शक्तियों का आश्रय परमात्मा ही है तथा कोई भी परमात्मा का उल्लंघन नहीं कर सकता। वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही तो नचिकेता

---

१. प्रश्नोपनिषद् में प्रश्न ५ तथा ६ में इसकी चर्चा की गई है।
केनोपनिषद् (४.१) में ब्रह्म की शक्ति को देवों की शक्ति का आधार एवं स्रोत कहा गया है।
स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः (तै० उप०, २.८)—पुरुष में और सूर्य में एक ही परमात्मा है।
आदित्यो ब्रह्म (छा० उप०, ३.१९.१)—सूर्य मानो प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

२. समन्वय सूत्र है—**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद, १.१६४.४६) —परमात्मा एक ही है, उसके वर्णन अनेक हैं।
देव एकः (अथर्व०, १३.२.२६)

का पूछा हुआ परमतत्त्व है, जिसका अनुभव और वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

शब्दार्थ : यत् इह = जो परब्रह्म परमात्मा यहाँ (है); **तत् एव अमुत्र** = वही वहाँ (है); **यत् अमुत्र** = जो वहाँ (है); **तत् अनु इह** = वही यहाँ (है); **स मृत्योः मृत्युम् आप्नोति** = वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है; **यः इह नाना इव पश्यति** = जो यहाँ (परमात्मा को) अनेक की भाँति देखता है।

वचनामृत : जो यहाँ (इस लोक में) है, वही वहाँ (उस लोक में) है। जो वहाँ (परलोक में) है, वही यहाँ (इस लोक में) है। जो परमात्मा को अनेक की भाँति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।

सन्दर्भ : मंत्र १०, ११ परस्पर जुड़े हुए हैं। नानात्व (अनेकता) देखना अज्ञान है। नानात्व के पृष्ठ में एक ही तत्व है।

दिव्यामृत : परमात्मा एक ही है, किन्तु मन की चंचलता के कारण तथा अविद्या अर्थात् अज्ञान के कारण वह नाना (अनेक) प्रतीत होता है। स्वप्न में भी नानात्व का अनुभव होता है। गाढ निद्रा (सुषुप्ति), समाधि तथा ज्ञान की अवस्था में नानात्व नहीं रहता। सर्वत्र वही एक रहता है। कूटस्थ (स्थिर) ब्रह्म में नानात्व नहीं है तथा मन में नानात्व है। दृष्टिदोष होने पर एक ही चन्द्रमा अनेक प्रतीत होता है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर, ज्ञान में स्थित होने पर, बुद्धि स्वीकार कर लेती है कि सारे विश्व में इस नानात्व के पृष्ठ में एक ही परमतत्त्व है। विद्या अर्थात् ज्ञान द्वारा अध्यास (जो वस्तु नहीं है तथा प्रतीत होती है) का निराकरण हो जाता है तथा माया का आवरण हट जाने पर सर्वत्र एक ही चैतन्य तत्त्व की अनुभूति हो जाती है। सर्वत्र एकत्व है।[१]

सर्वशक्तिमान्, सर्वरूप परब्रह्म ही सत् है। वह यहाँ पृथ्वीलोक में तथा वहाँ अन्य लोकों में है अथवा वहाँ और यहाँ भी है। वही अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह सम्पूर्ण जगत् एक ही परमतत्त्व से परिपूर्ण है तथा वही सबका आश्रय, आदि, मध्य और अन्त है।

---

१. **एकीभावेन पश्यन्ति योगिनो ब्रह्मवादिनः।**
त्वामनाश्रित्य विश्वात्मन् न योगी मामुपैष्यति॥ (कूर्मपुराण, १.९.८६)
—ब्रह्मज्ञानी योगी इस जगत् को तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को एकीभाव से देखते हैं। समस्त उपनिषदों में परमात्मा के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

जो मनुष्य इस जगत् में एक परमात्मा को अनेक की भाँति देखता है, वह अज्ञान अन्धकार में ही भटकता रहता है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

शब्दार्थ : मनसा एव = (विशुद्ध एवं सूक्ष्म) मन से ही; **इदम् आप्तव्यम्** = यह परमात्मतत्त्व प्राप्त करने योग्य है; **इह नाना किंचन न अस्ति** = यहाँ जगत् में अनेक (भिन्नत्व) कुछ भी नहीं है; **यः इह नाना इव पश्यति सः मृत्योः मृत्युम् गच्छति** = जो मनुष्य यहाँ (इस जगत् में) अनेक की भाँति देखता है (मानता है), वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

वचनामृत : परमात्म-तत्त्व का ग्रहण (विशुद्ध एवं सूक्ष्म) मन से ही करना चाहिए। यहाँ (जगत् में) भिन्नत्व है ही नहीं। जो मनुष्य यहाँ अनेक (भिन्न-भिन्न) की भाँति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

सन्दर्भ : यह मंत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें ज्ञान-दृष्टि की चर्चा की गयी है।

दिव्यामृत : इस जगत् में नानात्व के पृष्ठ में एकत्व है। भिन्नता केवल बाह्य स्तर पर है तथा आन्तरिक स्तर पर नहीं है। समुद्र की चंचल तरंगों, फेन, बुद्बुद आदि के भिन्नत्व के पृष्ठ में अथवा उससे परे समग्र समुद्र की एकता ही होती है। स्थूल दृष्टि होने पर मनुष्य सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकता। सूक्ष्म दृष्टि होने पर ही सूक्ष्म तत्त्व का संदर्शन संभव होता है। ज्ञानी सूक्ष्म दृष्टि होने पर ही सब कुछ देख (समझ) लेता है।[१]

सारा जगत् एक ही सूक्ष्म एवं दिव्य तत्त्व से प्रकट हुआ है तथा वही इसमें ओतप्रोत है। ज्ञान-दृष्टि होने पर मन अर्थात् बुद्धि द्वारा जगत् के पृष्ठ में एक ही परब्रह्म का ग्रहण हो जाता है।[२] इस जगत् में परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है। भेद केवल नाम और रूप में अर्थात् बाह्य स्तर पर ही है, जैसे स्वर्णाभूषणों में एक ही स्वर्ण नाम और रूप के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।[३] जो ज्ञानी

---

१. **आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति** (अथर्व०, ४.२०.१)

२. बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.१९) में भी लगभग यही मंत्र है, किन्तु वहाँ '**मनसैवेदमाप्तव्यं**' के स्थान पर '**मनसैवानुद्रष्टव्यं**' है तथा '**मृत्युं गच्छति**' के स्थान पर '**मृत्युमाप्नोति**' है।

३. **स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नाम-रूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते।** (प्रश्नोप०, ६.५)—नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट होकर एक समुद्र ही हो जाती हैं तथा उनका नाम और रूप का भेद नहीं रहता।

पुरुष सृष्टि में परमात्मा के एकत्व को जान लेता है,वह मृत्यु से परे चला जाता है तथा अमरपद को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष द्वैत (मैं और जगत् भिन्न हैं) से परे जाकर अपने भीतर अद्वैत (मैं और यह जगत् ब्रह्म ही है) में संस्थित हो जाता है। सब कुछ परब्रह्म परमात्मा ही तो है। जड और चेतन में एक ही चैतन्य सत्ता ओतप्रोत है तथा वही सत्य है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद् वै तत्॥ १२॥

शब्दार्थ : अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः आत्मनि मध्ये तिष्ठति = अङ्गुष्ठमात्र (अँगूठे के परिमाणवाला) पुरुष शरीर के मध्यभाग हृदयाकाश में स्थित है; (**आत्मनि** = देह में; यहाँ 'आत्मा' का अर्थ देह है) **भूतभव्यस्य ईशानः** = भूत और भविष्यत् का शासन करनेवाला; **ततः न विजुगुप्सते** = उसे जान लेने के पश्चात् जुगुप्सा (घृणा, द्वेष, भय आदि) नहीं करता; **एतद् वै तत्** = यह ही तो वह है।

वचनामृत : अङ्गुष्ठमात्र पुरुष देह के मध्यभाग (हृदयाकाश) में स्थित रहता है। वह भूत और भविष्यत् का शासन करनेवाला है। उसे जान लेने पर मनुष्य घृणा, भय आदि नहीं करता। यह ही तो वह है।

सन्दर्भ : मंत्र १२, १३ परस्पर जुड़े हुए हैं।

दिव्यामृत : यमाचार्य आत्मतत्त्व की व्याख्या अनेक प्रकार से करते हैं। मनुष्य के भीतर ही अङ्गुष्ठ के परिमाणवाला पुरुष हृदयाकाश में स्थित रहता है। पुरुष का अर्थ ज्योति-स्वरूप आत्मा (परमात्मा) तथा जीवात्मा (हृदयक्षेत्र के भीतर बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब अथवा बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा) दोनों ही होते हैं। वास्तव में आत्मा और जीवात्मा तत्त्वतः एक ही होते हैं। प्राणियों में हृदय कमल का आकार भिन्न-भिन्न होता है तथा पुरुष का परिमाण भी हृदय-कमल के अनुसार बड़ा अथवा छोटा होता है। मनुष्य का हृदय-कमल अँगूठे के परिमाणवाला होने के कारण ज्योतिःस्वरूप आत्मा का परिमाण भी अङ्गुष्ठाकार ही होता है। परमात्मा ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान का अथवा काल का शासक होता है।[१]

यद्यपि परमात्मा समान भाव से सर्वत्र परिपूर्ण होता है, तथापि हृदय क्षेत्र उसका विशेष स्थान कहा जाता है। मनुष्य हृदय में ही उसका अनुभव करता

---

१. **ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** (गीता, १८.६१)—हे अर्जुन, ईश्वर प्राणियों के हृदय में रहता है। जीवात्मा ईश्वर के अधीन होता है।

है तथा योगी ध्यान के समय हृदयकमल में ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का अनुभव करके आनन्दित होते हैं।

परमात्मा को जानकर ज्ञानी पुरुष घृणा और भय नहीं करता। श्रेष्ठ पुरुष घृणा और भय त्यागकर ही कर्तव्यकर्म करते हैं।

यही तो वह परमात्मा है, जिसे नचिकेता जानना चाहता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद् वै तत्॥ १३॥

शब्दार्थ : अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो = अँगूठे के परिमाणवाला पुरुष; **अधूमकः ज्योतिः इव** = धूमरहित ज्योति के तुल्य है; **भूतभव्यस्य ईशानः** = भूत और भविष्य का शासक; **स एव अद्य** = वह ही आज है; **उ सः श्वः** = और वह ही कल (है); **एतद् वै तत्** = यही है वह परमात्मा।

वचनामृत : अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति की भाँति है। भूत और भविष्यत् का (अर्थात् काल का) शासक है। वह ही आज है और वह ही कल है (अर्थात् सदा रहनेवाला, सनातन है)। यही है वह।

सन्दर्भ : हृदयकमल में परमात्मा का अनुभव कैसा होता है ? यह मंत्र ध्यानयोगियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

दिव्यामृत : परमात्मा परमपुरुष हैं। वह सनातन एवं नित्य है। वह कल भी था, आज भी है और कल भी होगा अर्थात् अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत है। वह कूटस्थ है। परमात्मा चैतन्यस्वरूप है, ज्योतिःस्वरूप है। विश्व की परम चेतना सर्वथा दिव्य है तथा योगियों को उसका अनुभव अपने भीतर ही हृदयकमल में होता है।

परब्रह्म परमात्मा के दिव्य प्रकाश का प्रतिबिम्ब हृदयकमल के भीतर स्थित अन्तःकरण (अथवा बुद्धि) में जीवात्मा के रूप में होता है। जिस प्रकार आकाश तो सर्वत्र है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब (छाया) स्वच्छ जल में होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के दिव्य प्रकाश का आभास (चिदाभास) निर्मल बुद्धितत्त्व में होता है।[1] जीवात्मा को अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य कह सकते हैं। जीवात्मा परिच्छिन्न तथा परमात्मा अपरिच्छिन्न है। परमात्मा सारे जगत् को तथा जीवात्मा अन्तःकरणसहित देह को प्रकाशित करता है। वास्तव में जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है तथा तत्त्वतः शुद्ध, बुद्ध, नित्य परमात्मा ही है।

भौतिक ज्योति धूमसहित होती है, किन्तु दिव्य ज्योति धूमरहित अर्थात् शुभ्र

---

१. **आभासा एव च** (ब्रह्मसूत्र, २.३.५०)

होती है। आत्मज्योति निर्धूम, दिव्य एवं अखण्ड होती है तथा ज्योतियों की भी मूल ज्योति होती है।[१]

यमाचार्य नचिकेता से कहते हैं कि यही वह परमात्मा है जिसे वह पूछ रहा है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥

शब्दार्थ : यथा दुर्गे वृष्टम् उदकम् पर्वतेषु विधावति = जिस प्रकार दुर्ग (उच्च शिखर) पर बरसा हुआ जल पर्वतों में इधर-उधर दौड़ता है; **एवम् धर्मान्** = इसी प्रकार धर्मों को; (धर्म-स्वभाव) **पृथक् पश्यन्** = पृथक् देखकर; **तान् एव अनुविधावति** = उन्हीं के पीछे दौड़ता है।

वचनामृत : जिस प्रकार उच्च शिखर पर बरसा हुआ जल पर्वतों में बह जाता है, उसी प्रकार शरीरभेदों अथवा स्वभावों को पृथक्-पृथक् देखनेवाला मनुष्य उन्हींका अनुसरण करता है।

सन्दर्भ : अविवेकी मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट होकर भटकता ही रहता है। इस सुन्दर मंत्र के अनेक अर्थ किए गए हैं।

दिव्यामृत : पर्वत के उच्च शिखर पर बरसा हुआ स्वच्छ जल निम्न स्थलों पर पहुँचकर यत्र तत्र बिखर जाता है तथा अस्वच्छ हो जाता है। बिखराव से शक्ति का क्षय हो जाता है। यह सिद्धान्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चरितार्थ होता है। शक्ति का बिखराव मन के लक्ष्यभ्रष्ट होने अर्थात् लक्ष्य से भटक जाने के कारण होता है। जब मन की शक्ति लक्ष्य का अनुसरण न करने के कारण एकाग्र नहीं होती, शक्ति का बिखराव और ह्रास प्रारंभ हो जाता है तथा कालान्तर में मनुष्य विनष्ट हो जाता है।[२] आत्मसंयम के अभ्यास से मन में प्रसाद (पवित्रता, प्रसन्नता) आने पर, प्रसन्नचित्त होने पर, बुद्धि शीघ्र ही स्थिर और शान्त हो जाती है।[३]

जो मनुष्य परमात्मा में नानात्व देखता है अर्थात् सारे जगत् में ओतप्रोत एक ही दिव्य सत्ता को नहीं देखता तथा भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखकर जगत् में नानात्व (भिन्नत्व) को ही देखता है, वह उसे नहीं जान सकता और मन की शक्तियों का बिखराव और भटकाव होने के कारण वह परमात्मा को प्राप्त

---

१. **ज्योतिषां ज्योतिरेकम्** (यजुर्वेद, ३४.१)
ज्योतिषां ज्योतिः (मुण्डक उप०, २.२.९)
आत्मैव अस्य ज्योतिः (बृ० उप०, ४.३.६)—आत्मा ही पुरुष की ज्योति है।

२. **बुद्धिनाशात्प्रणश्यति** (गीता, २.६३)

३. **प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते** (गीता, २.६५)

नहीं कर सकता। वह एक ही जल को अनेक धाराओं में विभक्त देखकर तथा जल के एकत्व को न देखकर भ्रमित हो जाता है। संसार में प्राणियों और पदार्थों की अनेकता के पृष्ठ में दिव्य तत्त्व की एकता है। अनेकता के पीछे भागनेवाला मनुष्य कभी एकत्व का अनुभव नहीं करता।

विवेकशील पुरुष संसार के विभिन्न पदार्थों और प्राणियों में अनुस्यूत एक ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा का संदर्शन एवं अनुभव करता है। शरीरों की भिन्नता होने पर भी प्राणियों में एक ही अभिन्न चैतन्यतत्त्व संस्थित है। शरीरभेदों को ही महत्त्व देनेवाला मनुष्य शरीरभेद का अनुसरण करनेवालों की भाँति ही लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है। भेद को ही महत्त्व देनेवाले लोग परस्पर टकराते हुए नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा से उत्पन्न, विभिन्न स्वभाववाले, भले-बुरे, ऊँच-नीच आदि कोई प्राणी उससे पृथक् नहीं हैं। संसार के समस्त भेद बाह्य हैं तथा उनके भीतर दिव्य चैतन्य का एकत्व है।

उत्तम पुरुष किसीसे घृणा और द्वेष नहीं करता तथा लोककल्याण एवं आत्मकल्याण की दृष्टि से, विवेकानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करते हुए भी सबमें परमात्मा का दर्शन करता है। वह सर्वभूतहितरत होता है।[१] यही आध्यात्मिक वृत्ति है तथा यही समदर्शन है।[२]

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

शब्दार्थ : गौतम = हे गौतमवंशीय नचिकेता; **यथा** = जिस प्रकार; **शुद्धे आसिक्तम् शुद्धम् उदकम्** = शुद्ध (जल में) बरसाया हुआ शुद्ध जल; **तादृक् एव** = वैसा ही; **भवति** =हो जाता है; **एवम्** = उसी प्रकार; **विजानतः मुनेः** = विवेकशील मुनि का; **आत्मा भवति** = आत्मा हो जाता है।

वचनामृत : हे नचिकेता, जिस प्रकार शुद्ध जल में बरसा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष का आत्मा हो जाता है।

---

१. **सर्वभूतहिते रताः** (गीता, ५.२५)
२. **अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना** (गीता, ८.८)
पण्डिताः समदर्शिनः (गीता, ५.१८)
सर्वत्र समदर्शनः (गीता, ६.२९)
समोऽहं सर्वभूतेषु (गीता, ९.२९)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् (गीता, १३.२७)
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् (गीता, १३.२८)

सन्दर्भ : ज्ञानी पुरुष शुद्ध जीवन होने पर आत्मा और परमात्मा के योग का अनुभव करता है।

दिव्यामृत : शुद्ध अर्थात् निर्मल और स्वच्छ जीवन मनुष्य को एक अनोखा सुख देता है। यदि मनुष्य स्वच्छ स्थान में बैठकर, स्वच्छ वस्त्र पहनकर, स्वच्छ वातावरण में रहकर, सुखी हो सकता है तो अपने भीतर मन और बुद्धि के स्वच्छ होने पर, उसका सुख निस्सन्देह अत्यन्त गहन और स्थायी हो सकता है।

विवेकशील पुरुष स्वच्छ विचारों और स्वच्छ आचरण का अभ्यास करके उन्हें जीवन का अंग बना लेता है तथा उसके लिए स्वच्छ जीवन सहज हो जाता है। वह संसार में नाना प्रकार के प्रलोभनों के मध्य में भी निर्मल रहकर इसी प्रकार हँसता-मुस्कराता रहता है, जैसे जल के मध्य में स्थित होकर भी, जल से ऊपर रहनेवाला कमल प्रसन्नतापूर्वक सुगन्धि और सौन्दर्य का चतुर्दिक् प्रसार करता रहता है।

मनुष्य का आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध ही है, किन्तु मन और बुद्धि के शुद्ध होने पर वह शुद्ध आत्मा का शुद्ध परमात्मा के साथ एकत्व का अनुभव कर सकता है, जैसे शुद्ध जल में बरसाया हुआ शुद्ध जल उसके साथ एक हो जाता है।

शुद्ध जल को शुद्ध जल में ही डाल देने पर वह शुद्ध ही रहता है, किन्तु शुद्ध जल को अशुद्ध जल में डाल दें तो वह भी अशुद्ध हो जाता है। मूलतः जीवात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, किन्तु वह संसार के अशुद्ध तत्त्वों में मिलकर अशुद्ध (मलिन) हो जाता है तथा अपना तेज खो देता है।

मनुष्य अपने मन और बुद्धि को निर्मल अर्थात् विकारों से मुक्त करके आत्मा और परमात्मा की एकता की दिव्यानुभूति कर सकता है।[१] इसे ही आत्मैकत्व-दर्शन कहा जाता है, जो मानव-जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है।

●

---

१. **जब लग मनहि विकारा, तब लगि नहिं छूटे संसारा।**
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माहि समाना॥ (कबीर)
जो चादर सुर नर मुनि ओढी, ओढि कै मैली कीन्ही चदरिया।
दास कबीर जतन ते ओढी, ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया॥ (कबीर)
मन ऐसो निर्मल भयो जस गंगा को नीर।
पाछे-पाछे हरि चलैं कहत कबीर-कबीर॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा।
सन्त हृदय जस निर्मल बारी।
न मलिनचेतसि बीजप्ररोहः—मलिन चित्त में ज्ञान का बीज प्रस्फुटित नहीं होता।

अध्याय द्वितीय

वल्ली द्वितीय

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥ एतद् वै तत्॥ १॥

शब्दार्थ : अवक्रचेतसः अजस्य = निर्विकार, सरल अजन्मा परमात्मा का; **एकादशद्वारम् पुरम्** = ग्यारह द्वारवाला पुर (है); **अनुष्ठाय न शोचति** = (मनुष्य) अनुष्ठान अर्थात् ध्यान आदि साधना करके शोक (दुःख, भय और चिन्ता) नहीं करता। **च** = तथा; **विमुक्तः विमुच्यते** = विमुक्त होकर विमुक्त हो जाता है। **एतद् वै तत्** = यह ही तो वह (परमात्मा) है।

वचनामृत : अवक्रचेता (निर्विकार, सरल), अज (जन्मरहित परमात्मा) का ग्यारह द्वारवाला (मनुष्य-देह) निवासस्थान है। परमात्मा का अनुष्ठान (भगवत्प्राप्ति की ध्यान आदि साधना) करके मनुष्य विमुक्त रहकर विमुक्त हो जाता है। यह ही तो वह है।

सन्दर्भ : यह अत्यन्त प्रख्यात मंत्र है। इसके अनेक अर्थ किए गए हैं। "**विमुक्तश्च विमुच्यते**" उपनिषदों का सारतत्त्व है। इसे कण्ठस्थ कर लें।

दिव्यामृत : मनुष्य का देह परमात्मा का श्रेष्ठ मन्दिर है। यह एक सम्पूर्ण लघु ब्रह्माण्ड है। विश्व का संचालन परमात्मा करता है तथा देह का संचालन परमात्मा का अंश जीवात्मा करता है। परमात्मा विश्व को प्रकाशित करता है तथा जीवात्मा मानव-देह को। जीवात्मा अपने शुद्ध रूप में परमात्मा ही है। परमात्मा निर्विकार है तथा जीवात्मा अविद्यारूपी विकार से ग्रस्त है। जीवात्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही है।

मनुष्य का देह परमात्मा का एक अद्भुत सदन है, जिसमें ग्यारह द्वार हैं।[1]

---

१. मानव-देह के छिद्र मानो इसके द्वार हैं—दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिकाछिद्र, एक मुख, कपाल में ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, मल-त्याग की इन्द्रिय, मूत्र-त्याग की इन्द्रिय। ब्रह्मरन्ध्र भी एक द्वार है—**यत्रासौ केशान्तो विवर्तते** (तै० उप०, १.६)। महान् योगी ब्रह्मरन्ध्र से प्राण-विसर्जन करते हैं। भगवद्गीता (५.१३) में नाभि और ब्रह्मरन्ध्र को छोड़कर नौ द्वार कहे गये हैं। श्वेत० उप० (३.१८) में भी नौ द्वार कहे गये हैं।

विवेकशील मनुष्य देह-मन्दिर में विराजमान परमात्मा की प्राप्ति की साधना द्वारा उसे प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति मानव-जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। पशुयोनि के प्राणी बुद्धि का विकास न होने के कारण इससे वंचित रहते हैं। मूढ मनुष्य अपने भीतर ही प्रतिष्ठित परमात्मा से विमुख होकर तथा विश्व के भौतिक आकर्षणों में फँसे रहकर पवित्र देवमन्दिर को भोगधाम एवं पापधाम बना लेते हैं तथा भय, चिन्ता और शोक से ग्रस्त रहकर दुःखी रहते हैं।

मनुष्य अज्ञान से मुक्त होकर तथा अपने दिव्य स्वरूप को जानकर, देह के रहते हुए ही, पूर्णमुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। वह अपने स्वरूप में स्थित होकर मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् मृत्यु का अतिक्रमण कर देता है। वह अभय हो जाता है तथा कभी भय, चिन्ता और शोक से ग्रस्त नहीं होता। पूर्ण बन्धनमुक्त होना जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

वास्तव में आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त तो है ही तथा उसका न बन्धन होता है और न मोक्ष होता। अविद्या अथवा अज्ञान द्वारा आरोपित मिथ्याबन्धन का भ्रम विद्या अथवा ज्ञान के द्वारा छूट जाता है तथा मनुष्य इस देह के रहते हुए ही मुक्त होने की श्रेष्ठ अवस्था (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है। ज्ञान द्वारा मनुष्य का जीवात्मा बद्धता के भ्रम से मुक्त होकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान से सद्यःमुक्ति प्राप्त हो जाती है। मनुष्य स्वस्वरूप न जानने के कारण बद्ध और स्वस्वरूप जानने से मुक्त हो जाता है।

श्रेष्ठ मनुष्य अन्तर्मुखी होकर, समस्त सांसारिक क्रियाकलाप करते हुए ही, जल में कमल की भाँति रहते हुए, अपने भीतर संस्थित परमात्मा की दिव्यानुभूति कर लेते हैं। ध्यानयोगी हृदयाकाश में परमज्योति का दर्शन करके कृतार्थ हो जाते हैं। यह ज्ञान और ध्यान की महिमा है।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥

शब्दार्थ : शुचिषत् = विशुद्ध परमधाम में, शुचि दीप्ति में आसीन है; (**शुचौ दीप्तौ सीदति इति शुचिषत्**); **हंसः** स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम परमात्मा अथवा आदित्य; **अन्तरिक्षसत् वसुः** = वासयिता वसु, अन्तरिक्ष को व्याप्त करनेवाला देवता वसु है। किन्तु वायु भी अन्तरिक्ष में विचरण करता है। (कुछ भाष्यकारों

भागवत पुराण (११.७.२२, २३) में मानव-देह को भगवान् का प्रिय मन्दिर कहा गया है। छान्दोग्य उप० (८.१.१) में मानव-देह को ब्रह्मपुर कहा गया है।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या(अथर्व०, १०.२.३१)

ने वसु को एक देवता के रूप में पृथक् वर्णित किया है तथा कुछ भाष्यकारों ने वसु का अर्थ व्यापक वायु कर दिया है। दोनों अर्थ ठीक हैं।) **वेदिषद् होता** = यज्ञवेदी पर स्थित अग्नि तथा अग्नि में आहुति देनेवाला 'होता' (**'अग्निर्वै होता' इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदति इति वेदिषत्।** -होता अग्नि है तथा पृथ्वी वेदी है।); **दुरोणसत् अतिथिः** = घरों (दुरोण = घर) में अतिथि के रूप में पधारते हैं; **नृषद् वरसद्** = मनुष्यों में (प्राणरूप से) स्थित है तथा देवों (जो मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं) में विराजमान, (**वरसत्** = वरणीय श्रेष्ठ पदार्थों में विभूति के रूप में विराजमान); **ऋतसत्** = ऋत (सत्य अथवा यज्ञ) में उपस्थित; **व्योमसत्** = आकाश में व्याप्त; **अब्जाः** = अप् अर्थात् जल में मत्स्य, शुक्ति आदि के रूप में उत्पन्न; **गोजाः** = गो अर्थात् पृथ्वी से स्वेदज आदि चतुर्विध भूतग्राम के रूप में उत्पन्न; **ऋतजाः** = सत्य अथवा सत्कर्मों के फल के रूप में प्रकट; **अद्रिजाः** = पर्वतों में नाना प्रकार से प्रकट (नदियाँ आदि); **बृहत् ऋतम्** = महान् सत्य (ब्रह्म) ही है।

वचनामृत : शुचि दीप्ति में आसीन स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम परमात्मा (अथवा हंस) है। वह वासयिता अर्थात् वसु देवता है, अन्तरिक्ष में वायु है, यज्ञवेदी पर अग्नि तथा आहुति देनेवाला होता है, घरों में पधारनेवाला अतिथि है, मनुष्यों में स्थित है तथा देवों में विराजमान है, ऋत (सत्य) में उपस्थित है, व्योम में व्याप्त है, जल में मत्स्य आदि के रूप में उत्पन्न है, पृथ्वी पर (चतुर्विध भूतग्राम के रूप में) उत्पन्न है, सत्कर्मों के फल के रूप में प्रकट है, पर्वतों में नाना प्रकार से (नद, नदियों आदि के रूप में) प्रकट है, वही महान् सत्य (अथवा ब्रह्म) है।

सन्दर्भ : विभूतियाँ प्रतीकात्मक होती हैं।

दिव्यामृत : विश्व की समस्त विभूतियों (गरिमापूर्ण भावों एवं पदार्थों) में एक ही परमसत्ता की महिमा प्रकट होती है।[१]

स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम (अथवा देदीप्यमान आदित्य के रूप में प्रकट) के रूप में वही एक परब्रह्म है। वही अन्तरिक्ष में व्याप्त रहनेवाला वसु (देवता) है तथा वही अन्तरिक्ष में वायु है। यज्ञवेदी पर स्थित पवित्र अग्नि तथा अग्नि में आहुति देनेवाला होता भी वही है। घरों में अतिथिदेव के रूप में पधारनेवाला भी परब्रह्म ही है। वही मनुष्यों तथा देवों में विराजमान है। वही ऋत (सत्य

१. गीता (अध्याय १०) के विभूतियोग में इस मंत्र में वर्णित अधिकांश महत्त्वपूर्ण वस्तुओं और दैवी शक्तियों की विशद चर्चा है। कदाचित् विभूतियोग इसी मंत्र का विस्तार है।

अथवा यज्ञ) में उपस्थित है। वही व्योम में व्याप्त है। वही जल में मत्स्य, शुक्ति आदि के रूप में उत्पन्न होता है तथा वही पृथ्वी पर प्राणियों और पदार्थों के नाना रूपों में प्रकट होता है। वह सत्य अथवा सत्कर्म के फल के रूप में प्रकट होता है। वही पर्वतों से जलधाराओं आदि के रूप में प्रकट होता है। वह महान् सत्य है, सत्य का भी सत्य है।[१] सर्वत्र वही एक है।[२]

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥

शब्दार्थ : प्राणम् ऊर्ध्वम् उन्नयति = प्राण को ऊपर की ओर उठा देता है; **अपानम् प्रत्यक् अस्यति** = अपान वायु को नीचे की ओर फेंकता (ढकेलता) है; **मध्ये** = शरीर के मध्यभाग हृदय में; **आसीनम्** = स्थित; **वामनम्** = सूक्ष्म, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा को; **विश्वेदेवा उपासते** = (**विश्वे** = सभी) सभी देवता पूजते हैं।

वचनामृत : (जो) प्राण को ऊपर की ओर उठा देता है, अपान वायु को नीचे की ओर ढकेलता है, देह के मध्यभाग हृदय में सूक्ष्म रूप से आसीन है, (उस) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की सभी देवता उपासना करते हैं।

सन्दर्भ : देह में इन्द्रियों को तथा वायु को वही एक सक्रिय करता है।

दिव्यामृत : देह में व्याप्त परमात्मा की चेतना शक्ति से देह के अङ्ग, इन्द्रियाँ और वायु आदि सक्रिय होते हैं तथा संचालित होते हैं। जीवन का आधार और स्रोत देह में संस्थित परमात्मा का दिव्य अंश जीवात्मा होता है, जो देह के मध्य में, हृदयक्षेत्र में, विराजमान है। समस्त इन्द्रियों के देव अर्थात् इन्द्रियों की शक्तियाँ उसीकी उपासना करती हैं, उसीके अनुशासन में रहकर कार्य करती हैं।

प्राणशक्ति एक है, किन्तु पृथक्-पृथक् रूप से कार्य करने के कारण उसे पाँच कहा जाता है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान को एक ही मुख्य प्राण के विभक्त रूप कहा जाता है। प्राणवायु मुख और नासिका द्वारा विचरण करता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है; अपानवायु नाभि से नीचे मलद्वार और मूत्रेन्द्रिय में स्थित होकर मल-मूत्र का विसर्जन करता है; समानवायु नाभि में स्थित होकर अन्नादि के पाचन में सहायता करके उनके सारतत्त्व को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में समान रूप से पहुँचा देता है; व्यानवायु का बाह्य रूप आकाश में विचरण करता है तथा इसका भीतरी रूप रक्त-संचालन

---

१. **सत्यस्य सत्यम्** (बृ० उप०, २.१.२०)—ब्रह्म सत्य का भी सत्य, परमसत्य है।
२. **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छान्दोग्य उप०, ३.१४.१)—सब कुछ ब्रह्म ही है।

में और नाडियों को संचारित करने में सहायक होता है; उदानवायु में उष्णत्व होता है तथा यह शरीर में ऊष्मा को स्थिर रखता है।[1]

प्राणवायु, इन्द्रियों और मन को सक्रिय और संचालित करनेवाली चैतन्य दिव्य सत्ता की सभी दैवी शक्तियाँ उपासना करती हैं। परमात्मा ही विश्व में सर्वोच्च सत्ता के रूप में सर्वत्र संस्थित है।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद् वै तत्॥ ४॥

शब्दार्थ : अस्य शरीरस्थस्य विस्रंसमानस्य देहिनः = इस शरीर में स्थित, शरीर से चले जानेवाले, जीवात्मा के; **देहात् विमुच्यमानस्य** = देह से चले जाने पर; **अत्र किम् परिशिष्यते** = यहाँ इस शरीर में क्या शेष रहता है ? **एतद् वै तत्** = यह ही वह है।

वचनामृत : इस शरीर में स्थित, शरीर से चले जानेवाले जीवात्मा के देह से निकल जाने पर यहाँ इस शरीर में क्या शेष रहता है ? यह ही वह (ब्रह्म) है।

सन्दर्भ : ब्रह्म देह में जीवात्मा के रूप में रहता है तथा देह का संचालन करता है।

दिव्यामृत : किसी प्राणी की मृत्यु होने पर क्या होता है ?

मृत देह के ज्यों के त्यों रहने पर भी मृतक प्राणी के नेत्र, श्रोत्र आदि कार्य नहीं करते। देह से क्या तत्त्व निर्गत हो जाता है, जिसके निर्गमन से प्राणी निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट हो जाता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है, जिसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया जाता है।

भौतिकवादी लोग कहते हैं कि जिस प्रकार घड़ी अथवा कोई यंत्र सहसा बन्द हो जाता है, उसी प्रकार प्राणी का देह भी जर्जर होने पर सहसा कार्य करना बन्द कर देता है। किन्तु पुनः प्रश्न होता है कि उसे किसने बनाया ? किसने देह-यंत्र का निर्माण करके उसे सक्रिय किया ? भौतिकवादी लोग कहते हैं कि प्रकृति ने उसका निर्माण किया था। पुनः प्रश्न होता है कि प्रकृति तो जड है, उसने सृजन कैसे किया ? वास्तव में अणु-परमाणुओं का संयोग करके उन्हें सक्रिय करनेवाला एक सूक्ष्म चैतन्य तत्त्व है, जो सर्वशक्तिमान् है, जिसे

---

१. प्रश्नोपनिषद् के प्रश्न ३ में इसे विस्तार से कहा गया है। गीता (१५.८) में कहा गया है कि मुख्य प्राण उदान को साथ लेकर दूसरे शरीर में जाता है तथा वह समान आदि अन्य वायुओं को भी, इन्द्रियों और मन के साथ, ले जाता है। इन सबका स्वामी जीवात्मा भी साथ ही जाता है।

ब्रह्म अथवा परमात्मा कहते हैं। वह समस्त जगत् में ओतप्रोत है। वह अनादि और अनन्त है। वह सत् है अर्थात् उसका अस्तित्व है।

यह जगत् और देह जड-चेतन का एक अद्भुत सम्मिश्रण हैं। जिस प्रकार जगत् का आधार, आश्रय और संचालन करनेवाला परमात्मा है, उसी प्रकार देह का आधार, आश्रय और संचालन करनेवाला जीवात्मा है। जीवात्मा के देह से निकल जाने पर देह जड एवं निश्चेष्ट हो जाता है तथा देह के पञ्चतत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) जगत् के पञ्चतत्त्वों में मिल जाते हैं। तत्त्वतः परमात्मा और जीवात्मा एक ही हैं। देह का स्वामी जीवात्मा होता है, जिसके मात्र सान्निध्य से मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सक्रिय होकर कार्य करते हैं।

यमाचार्य कहते हैं कि देह में रहनेवाले जिस चैतन्य तत्त्व के निकल जाने पर देह मृत हो जाता है अर्थात् जड एवं निश्चेष्ट हो जाता है, वही तो चैतन्य स्वरूप ब्रह्म है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

शब्दार्थ : कश्चन = कोई भी; **मर्त्यःन प्राणेन न अपानेन जीवति** = मरणशील प्राणी न प्राण से, न अपान से जीवित रहता है; तु = किन्तु; **यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ** = जिसमें ये दोनों (वास्तव में पाँचों प्राणवायु) उपाश्रित हैं; **इतरेण जीवन्ति** = अन्य से ही जीवित रहते हैं;

गौतम = हे गौतमवंशीय नचिकेता; **गुह्यम् सनातनम्** = (वह) रहस्यमय सनातन; **ब्रह्म** = ब्रह्म; **च आत्मा मरणम् प्राप्य** = और जीवात्मा मरण को प्राप्त करके; **यथा भवति** = जैसे होता (रहता) है; **इदम् ते हन्त प्रवक्ष्यामि** = यह तुम्हें निश्चय ही बताऊँगा।

वचनामृत : कोई भी प्राणी न प्राण से, न अपान से जीवित रहता है, किन्तु जिसमें ये दोनों (अर्थात् पाँचों प्राणवायु) आश्रित हैं, उस अन्य से ही (प्राणी) जीवित रहते हैं। हे गौतमवंशीय नचिकेता, (मैं) उस गुह्य सनातन ब्रह्म का और मरने पर जीवात्मा की जो अवस्था होती है, उसका अवश्य कथन करूँगा।

सन्दर्भ : यमाचार्य नचिकेता को देह में स्थित जीवात्मा की महिमा बताकर ब्रह्मतत्त्व के कथन का आश्वासन देते हैं।

दिव्यामृत : मुख्य प्राण ही विभिन्न कार्यों के अनुसार पाँच वायुओं के रूप

में विभक्त है, जिनमें प्राण और अपान प्रमुख हैं। मनुष्य के जीवन का आधार प्राण और अपान से लक्षित केवल पाँच वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान) ही नहीं हैं। श्वास-प्रश्वास का जीवन-धारण के लिए असाधारण महत्त्व है, किन्तु प्राणी के जीवन का आधार उनसे भिन्न उसका जीवात्मा होता है, जिस पर प्राण, अपान आदि पञ्चवायु आश्रित रहते हैं। समस्त इन्द्रियाँ भी जीवात्मा पर ही आश्रित होती हैं। जीवात्मा के होने से ही जीवन होता है। जीवात्मा के रहने से ही मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने कार्य करते हैं।

देह की मृत्यु का विशुद्ध चेतना अथवा आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता। ब्रह्म, आत्मा अथवा परमात्मा शाश्वत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। यमाचार्य ब्रह्मतत्त्व के कथन का आश्वासन देते हैं। उत्तम गुरु आवश्यक आश्वासन देकर जिज्ञासु शिष्य के धैर्य को टूटने नहीं देते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥

शब्दार्थ : यथाकर्म यथाश्रुतम् = जैसा किसीका कर्म होता है, जैसा जिसका श्रवण होता है; **शरीरत्वाय** = शरीर-धारण के लिए; **अन्ये देहिनः** = अनेक जीवात्मा; **योनिं प्रपद्यन्ते** = योनियों को प्राप्त होते हैं; **अन्ये स्थाणुम् अनुसंयन्ति** = अनेक स्थाणुभाव का अनुसरण करते हैं।

वचनामृत : अपने कर्म तथा श्रवण (श्रवण किये हुए भाव) के अनुसार अनेक जीवात्मा जङ्गम योनियों को प्राप्त होते हैं, अनेक स्थावर हो जाते हैं।

सन्दर्भ : मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की अवस्था का वर्णन है।

दिव्यामृत : परब्रह्म समस्त अस्तित्व का आधार है तथा वह सर्वत्र है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—अचेतन (जड, स्थावर, अचर, एक ही स्थान पर स्थिर) तथा चेतन (चर, जीवित, जङ्गम)। अचेतन पदार्थों में चेतना प्रसुप्त रहती है तथा चेतन पदार्थों में चेतना जाग्रत् होती है। वृक्ष स्थावर होते हैं तथा उनमें चेतना अविकसित अथवा किंचित् जाग्रत्-अवस्था में होती है।

मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का जीवात्मा अपने कर्म अथवा श्रवण द्वारा प्राप्त भाव के अनुसार स्थावर वृक्षों अथवा चेतन प्राणियों में प्रवेश कर लेता है।[१] अन्त में जैसी मति, वैसी गति होती है। चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही जगत् का एकमात्र आधार है।

---

१. भागवत पुराण (स्कन्ध १०) में यमलार्जुन वृक्षों की तथा रामायण में अहल्या की जड पाषाण से उद्धार की कथा प्रख्यात है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद् वै तत्॥ ८॥

शब्दार्थ : यः एष = जो यह; **कामम् कामम्** = (जीवों के कर्म के अनुसार) भोगों का; **निर्मिमाणः** = निर्माण करनेवाला; **पुरुषः** =परमात्मा जो परमपुरुष है; **सुप्तेषु** = (सबके) सो जाने पर, (प्रलयकाल में भी); **जागर्ति** = जागता है; **तत् एव शुक्रम्, तत् ब्रह्म** = वही विशुद्ध अथवा शुभ्र ज्योतिःस्वरूप तत्त्व है, वही ब्रह्म है; **तत् एव अमृतम्** = वही अमृत, अविनाशी; **उच्यते** = कहा जाता है; **तस्मिन्** = उसीमें; **सर्वे लोकाः श्रिताः** = सारे लोक आश्रित हैं; **तत् कश्चन उ** = उसे कोई भी; **न अत्येति** = अतिक्रमण नहीं करता; **एतद् वै तत्** = यही तो वह है।

वचनामृत : जो यह काम्य भोगों का निर्माण करनेवाला परमपुरुष है, सबके सो जाने पर (भी) जागता रहता है, वही विशुद्ध (शुभ्र, ज्योतिःस्वरूप) तत्त्व है, वही ब्रह्म है, वही अविनाशी कहा जाता है। उसीमें सब लोक आश्रय पाते हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता (उससे बढकर कोई नहीं है)। यही तो वह है (जिसे नचिकेता पूछ रहा है।)

सन्दर्भ : परमात्मा के अस्तित्व को अनेक प्रकार से समझाया जा रहा है।

दिव्यामृत : विश्व का संचालन करनेवाली दिव्य सत्ता ब्रह्म अर्थात् परम महान् है। ब्रह्म सदैव जाग्रत् रहता है तथा प्राणियों के सोने पर भी वह जाग्रत् ही रहता है। प्रार्णियों के देह में भी प्राणादि के प्रसुप्त हो जाने पर चैतन्य तत्त्व जाग्रत् ही रहता है। वह निरन्तर जाग्रत् है।

मनुष्यों के निद्रा में अचेत रहने पर भी परमात्मा प्रकृति के माध्यम से विश्व में नाना प्रकार के काम्य पदार्थों का निर्माण करता रहता है।

परमात्मा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप दिव्य एवं सूक्ष्म तत्त्व है। वह मनुष्यों में संस्थित रहकर भी उनकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में इन अवस्थाओं का मात्र साक्षी रहता है, जैसे प्रकाशदीप मनुष्यों के भले और बुरे कर्मों का मात्र साक्षी रहता है।

ज्योतिःस्वरूप परमात्मा सबका प्रकाशक है। उसके प्रकाश से ही मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सचेतन होकर क्रियाशील होते हैं। यह तेजोमय है, शुभ्र है तथा अमृतस्वरूप अर्थात् अविनाशी एवं नित्य है। समस्त लोक उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा के आश्रित रहते हैं। उस सर्वसमर्थ सत्ता का अतिक्रमण अथवा उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। उससे बढकर अन्य कुछ भी नहीं है।

यमाचार्य नचिकेता को परमात्मा का प्रतिपादन अनेक प्रकार से करते हुए पुनः पुनः कहते हैं कि यही तो वह ब्रह्म है, जिसे वह जानना चाहता है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

शब्दार्थ : यथा भुवनम् प्रविष्टः एकः अग्निः रूपम् रूपम् प्रतिरूपः बभूव = जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि (तेज) नाना रूपों में उनके प्रतिरूप अथवा अनुरूप (समान रूपवाला जैसा) होता है; **तथा** = उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा** = सब भूतों (प्राणियों) का अन्तरात्मा ब्रह्म; **एकः रूपम् रूपम् प्रतिरूपः च बहिः** = एक (ही) नाना रूपों में उन्हींके प्रतिरूप (समान रूपवाला जैसा) है और उनके बाहर भी है।

यथा भुवनम् प्रविष्टः एकः वायुः रूपम् रूपम् प्रतिरूपः बभूव = जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही वायु नाना रूपों में उनके प्रतिरूप (समान रूपवाला जैसा) होता है; **तथा** = उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा** = सब प्राणियों का अन्तरात्मा ब्रह्म; **एकः रूपम् रूपम् प्रतिरूपः च बहिः** = एक ही नाना रूपों में उन्हींके प्रतिरूप (समान रूपवाला जैसा) है और उनके बाहर भी है।

वचनामृत : जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि (तेज) नाना रूपों में उनके प्रतिरूप होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा ब्रह्म एक ही नाना रूपों में उन्हींके प्रतिरूप होता है तथा उनके बाहर भी होता है। जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही वायु नाना रूपों में उनके प्रतिरूप होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा ब्रह्म एक ही नाना रूपों में उन्हींके प्रतिरूप होता है और उनके बाहर भी होता है।

सन्दर्भ : मंत्र ९, १० परस्पर सम्बद्ध हैं तथा दोनों में अग्नि और वायु के दृष्टान्त से ब्रह्म की व्यापकता तथा उसकी निर्लिप्तता कही गयी है।

दिव्यामृत : परमात्मा अद्वितीय है। वह एक ही है।[१] परमात्मा की सर्व-

---

१. अनेक उपनिषदों में पुनः पुनः प्रतिपादित है कि परमात्मा एक है। श्वेत० उप०, में अनेक मंत्रों में परमात्मा के एक ही होने की चर्चा है।
ज्योतिषां ज्योतिरेकम् (यजुर्वेद, ३४.१)।
परमात्मा के सब प्राणियों और पदार्थों में अनुप्रविष्ट होने की तैत्तिरीय उप० इत्यादि में चर्चा है।

व्यापकता को तथा नाना रूपों में उसके प्रकट होने को अनेक दृष्टान्तों से कहा जाता है। अग्नि सूक्ष्म एवं निराकार रूप से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, किन्तु प्रज्वलित होने पर साकार रूप में दृष्टिगोचर होता है तथा उसके ताप का अनुभव होता है। एक ही अग्नि अपने आधारभूत वस्तुओं के आकार के अनुरूप रूपों में दिखाई देता है।[१] वह एक ही वस्तुओं के अनुरूप अर्थात् तदाकार एवं तद्रूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी एक ही परमात्मा नाना प्राणियों के अनुरूप नाना रूपों में प्रकट होता है। परमात्मा प्राणियों के भीतर भी है और सर्वत्र बाहर भी है। यह परमात्मा की महिमा है। वह सर्वत्र विद्यमान होकर भी अलिप्त, निर्विकार और असंग है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी तथा अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार एक ही अग्नि सर्वत्र प्रविष्ट अर्थात् व्याप्त है और अपने आधार के अनुरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही वायु सर्वत्र प्रविष्ट अर्थात् व्याप्त है और अपने आधार के अनुरूप तद्रूप अथवा तदाकार होकर प्रकट होता है।

अग्नि और वायु की भाँति परमात्मा सभी प्राणियों और पदार्थों में अन्तर्निहित होकर भी उनके अनुरूप नाना प्रकार से प्रकट होता है। वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। परमात्मा सर्वत्र ओतप्रोत होकर भी निर्लेप, निर्विकार और असंग है। यह परमात्मा की अनिर्वचनीय महिमा है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यंते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

शब्दार्थ : यथा सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः = जिस प्रकार समस्त लोक का चक्षु सूर्य (प्रकाशक सूर्य); **चाक्षुषै बाह्यदोषैः न लिप्यते** = (मनुष्यों के) नेत्रों से होनेवाले बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता; **तथा** = उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा एकः लोकदुःखेन न लिप्यते** = सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक परमात्मा लोक के दुःख से लिप्त नहीं होता; **बाह्यः** = वह सबसे परे है।

वचनामृत : जिस प्रकार सारे लोक का प्रकाशक सूर्य मनुष्यों के नेत्रों से होनेवाले बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा एक (परमात्मा) लोक के दुःखों से लिप्त नहीं होता। वह तो सबसे परे है।

सन्दर्भ : परमात्मा निर्लेप है।

दिव्यामृत : विश्व की अखण्ड चैतन्य सत्ता एक परब्रह्म परमात्मा ही है। वह सूक्ष्म, निर्विकार और निर्लेप है। जिस प्रकार विशाल व्योम में एक

---

१. **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव** (बृ० उप०, २.५.१९)

ही प्रकाशक तेजोमय सूर्य है, जो मनुष्यों के नेत्रदोष के कारण मलिन अथवा दोषमय प्रतीत होने पर भी, उनके नेत्रदोष से किसी प्रकार भी प्रभावित एवं लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्यों के बुद्धि आदि के दोष होने पर भी भीतर संस्थित ज्योति:स्वरूप परमात्मा दोषमय नहीं हो जाता। परमात्मा मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों तथा उनसे उत्पन्न सुख-दु:ख से लिप्त नहीं होता।[1] विशुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में ओतप्रोत होकर भी उससे परे अर्थात् अलिप्त एवं असंग रहता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

शब्दार्थ : यः सर्वभूतान्तरात्मा एकः = जो सब प्राणियों का अन्तरात्मा (भीतर बसनेवाला) एक (अद्वितीय) परमात्मा; **वशी** = सबको नियन्त्रित करनेवाला; **एकम् रूपम् बहुधा करोति** = एक रूप को बहुत प्रकार से कर लेता है (बना लेता है); **तम् आत्मस्थम्** = उस अपने भीतर संस्थित को; **ये धीराः अनुपश्यन्ति** = जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर देखते हैं; **तेषाम् शाश्वतम् सुखम्** = उनका शाश्वत सुख (होता है); **इतरेषाम् न** = अन्य का नहीं।

वचनामृत : जो सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक (अद्वितीय) परमात्मा, सबको वश में रखनेवाला, एक (ही) रूप को बहुत प्रकार से बना लेता है, उस अपने भीतर संस्थित (परमात्मा) को जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर देखते हैं, उनको अखण्ड सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

सन्दर्भ : यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मंत्र ९, १०, ११, १२, १३ की एक शृंखला है, जिनमें एक (अद्वितीय) परमात्मा का वर्णन है। इन मंत्रों में परमात्मा को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा गया है। यह मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद् के मंत्र ६.१२ के समान है।

दिव्यामृत : परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह सत् (सदा रहनेवाली त्रिकालाबाधित सत्ता) है, चित् (चैतन्यस्वरूप) है और आनन्द (आनन्दस्वरूप) है। वह सम्पूर्ण जगत् का आश्रय है। परमात्मा जीवन का स्रोत है तथा जीवन का आधार है। वह अद्वितीय है तथा सबको नियंत्रित करता है। वह एक ही अपने को अनेक रूपों में प्रकट कर देता है।[2] वह परमात्मा मनुष्य के

---

१. गीता में यही भाव ५.१५, १३.३१ में भी व्यक्त किया गया है। शङ्कराचार्य ने इस मंत्र की व्याख्या में विवर्तवाद का पुट दे दिया है।

२. **एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।**

भीतर हृदयाकाश में ही संस्थित है तथा उसे खोजने और पाने के लिए कहीं अन्यत्र नहीं जाना है।[१] विवेकशील पुरुष अन्तर्मुखी होकर ज्ञान और ध्यान से अपने भीतर ही उसे देखते हैं अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करते हैं। जो आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुष अपने भीतर निरन्तर उससे आन्तरिक संबंध बनाए रखते हैं, उससे स्फूर्त होकर कर्म करते हैं, वे निरन्तर निर्भयता, निश्चिन्तता, सुरक्षा, शान्ति और सुख प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो मूढ जन अपने भीतर संस्थित परमात्मा से विमुख रहते हैं, वे सदा भय, चिन्ता, आशङ्का, अशान्ति और दुःख से ग्रस्त रहते हैं। आत्मदेव का दर्शन करनेवाले नित्य सुखी रहते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥

शब्दार्थ : यः नित्यानाम् नित्यः चेतनानाम् चेतनः = जो नित्यों का भी नित्य, चेतनों का भी चेतन है; **एकः बहूनाम् कामान् विदधाति** = एक ही सबकी कामनाओं को पूर्ण करता है अथवा जीवों के कर्मफलभोगों का विधान करता है; **तम् आत्मस्थम्** = उस आत्मस्थित को; **ये धीराः अनुपश्यन्ति** = जो ज्ञानी निरन्तर देखते हैं; **तेषाम् शाश्वती शान्तिः इतरेषाम् न** = उनको अखण्ड शान्ति (मिलती है), दूसरों को नहीं।

वचनामृत : जो नित्यों का भी नित्य, चेतनों का भी चेतन है, जो एक ही जीवों के कर्मफलभोगों का विधान करता है, (अथवा अनन्त कामनाओं को पूर्ण करता है) उस आत्मस्थित परमात्मा को जो ज्ञानी अपने भीतर ही निरन्तर देखते हैं, उन्हींको अखण्ड शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

सन्दर्भ : यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध मंत्र है। इसमें उच्चकोटि का काव्य-सौन्दर्य है तथा ज्ञान एवं भक्ति का सुन्दर समन्वय है। इसे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। इसका पूर्वार्द्ध श्वेत० उप०, ६.१३ तथा उत्तरार्द्ध ६.१२ में इसी प्रकार है।

दिव्यामृत : धन्य हैं वे विवेकी पुरुष, जो संसार के भोगों की क्षणभंगुरता और सारहीनता को देखकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं तथा अपने भीतर स्थित दिव्य

(ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, १२)—एक ही चन्द्रमा जल में बहुत प्रकार का प्रतीत होता है।

१. **कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढै बन माहिं,**
ऐसे घट-घट राम है दुनिया देखै नाहिं॥ (कबीर)
घटहि खोजहु भाई।

आत्मदेव का साक्षात् अनुभव करके कृतकृत्य हो जाते हैं। संसार के भोगों से आत्यन्तिक तृप्ति नहीं होती तथा उनके प्रलोभन में फँसकर मनुष्य अपनी शान्ति और शक्ति को खो बैठता है। बहिर्जगत् के सुख मृगतृष्णा की भाँति मनुष्य को भटकाते ही रहते हैं तथा मनुष्य अन्त में थककर और निराश होकर पछताता ही रह जाता है। सत्ता और धन के प्रलोभन से ग्रस्त मनुष्य सत्पथ को त्यागकर कुकर्म करने लगता है तथा भय, चिन्ता और क्लेश से ग्रस्त हो जाता है। भौतिक पदार्थों में सुख और शान्ति देने की क्षमता ही नहीं होती। यह एक ध्रुव सत्य है कि आत्यन्तिक सुख अथवा अखण्ड आनन्द सदैव अपने भीतर से ही प्राप्त होता है। अखण्ड आनन्द का स्रोत परमात्मा अपने भीतर ही स्थित है।

परमात्मा नित्यों का भी नित्य अर्थात् परमनित्य और चेतनों का भी चेतन अर्थात् परमचेतन है। वह मनुष्यों के कर्मफल का विधान करता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही कामना-पूर्ति करने में समर्थ है। वास्तव में परमात्मा की प्राप्ति होने पर संसार की कोई कामना शेष नहीं रहती तथा मनुष्य आत्मतृप्त हो जाता है। विवेकशील पुरुष अपने भीतर ही (हृदयक्षेत्र में स्थित बुद्धि के भीतर ही) उस दिव्य सत्ता का साक्षात्कार करते हैं और अखण्ड शान्ति प्राप्त कर लेते हैं। वे अपने भीतर विराजमान परमात्मा की दिव्य सत्ता से स्फूर्त (अन्तःप्रेरित) होकर कर्तव्यकर्म करते हैं। किन्तु जो अज्ञानी आत्मदेव से विमुख होकर जगत्प्रपंच में ही फँसे रहते हैं, वे भय, चिन्ता, क्लेश और दुःख से ग्रस्त रहते हैं। निश्चय ही आत्मदर्शी पुरुष आनन्द-प्राप्ति कर लेता है।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं तु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥ १४॥

शब्दार्थ : तत् अनिर्देश्यम् परमम् सुखम् एतत् इति मन्यन्ते = वह अनिर्वचनीय परमसुख यह है, ऐसा (ज्ञानीजन) मानते हैं; **तत् कथम् तु विजानीयाम्** = उसे कैसे भली प्रकार जानूँ; **किमु** = क्या; **भाति वा विभाति** = प्रकाशित होता है या अनुभूत होता है।

वचनामृत : नचिकेता ने मन में कहा—यह अनिर्वचनीय सुख यह है, ऐसा (ज्ञानीजन) मानते हैं। उसे कैसे भली प्रकार जानूँ? क्या (तत्त्व) स्वतः प्रकाशित होता है, क्या वह अन्य के द्वारा प्रकाशित होता है ? (अथवा उसका अनुभव क्या होता है?)

सन्दर्भ : नचिकेता की अनिर्वचनीय शान्ति के विषय में जिज्ञासा शेष है।

दिव्यामृत : नचिकेता ने ज्ञानीजन द्वारा परमशान्ति का वर्णन ध्यानपूर्वक सुना, किन्तु उसके मन में यह जिज्ञासा शेष रह गई कि वह स्वयं उसे कैसे

जान ले। क्या तत्त्व प्रकाशित होता है तथा उसका अनुभव कैसा होता है ? परमात्मा का साक्षात्कार कैसा होता है ? वह परमतत्त्व यही है, इसे किस प्रकार जाना जाए ? अनिर्देश्य क्या है ?[१] क्या वह स्वतः प्रकाशित होता है अथवा किसी अन्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? तथ्य क्या है ? उसका अनुभव कैसा होता है ? नचिकेता कुछ अधिक स्पष्टीकरण चाहता है। 'अनुभाति' क्या है, 'विभाति' क्या है?

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

शब्दार्थ : तत्र न सूर्यः भाति न चन्द्रतारकम् = वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारों का समूह; **न इमाः विद्युतो भान्ति** = न ये विद्युत् ही प्रकाशित होती हैं (न ये बिजलियाँ चमकती हैं); **अयम् अग्निः कुतः** = (लौकिक) अग्नि कहाँ (यह प्रज्वलित होनेवाला अग्नि भला कहाँ है, कैसे चमक सकता है ?); **तम् भान्तम् एव सर्वम् अनुभाति** = (**अनु** = पीछे, बाद में) उसके प्रकाशित होने पर ही (उससे प्रकाश लेकर बाद में) सब प्रकाशित होता है (ये सब भी प्रकाशित होते हैं); **तस्य भासा इदम् सर्वम् विभाति** = उसीके प्रकाश से यह सब (सम्पूर्ण जगत्) भी प्रकाशित होता है।

वचनामृत : वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण, न ये विद्युत (बिजलियाँ) प्रकाशित होती हैं, अग्नि (तो वहाँ) कैसे चमकेगा ? उसके प्रकाशित होने के बाद ही सब प्रकाशित होता है, उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है।

सन्दर्भ : यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध है। इसे अवश्य कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। मुण्डक उप० (२.२.१०) तथा श्वेत० उप० (६.१४) में भी इसी प्रकार है। गीता (१५.६) में कुछ अन्तर से यही कहा गया है। यह पूर्ववर्ती मंत्र १४ के 'भाति' और 'विभाति' की व्याख्या है।

दिव्यामृत : परब्रह्म परमात्मा प्रकाशस्वरूप है। परमात्मा एक सूक्ष्म एवं दिव्य प्रकाश है। परमात्मा स्वयंप्रकाश है। परमात्मा के प्रकाश की अपेक्षा सूर्य, चन्द्र, तारागण और विद्युत् का प्रकाश तुच्छ है। उस दिव्य प्रकाश की अपेक्षा पृथ्वी पर प्रज्वलित होनेवाला यह अग्नि तो और भी अधिक तुच्छ है।

सूक्ष्म दिव्यलोक में सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत् और अग्नि के प्रकाश का अस्तित्व ही नहीं है। आत्मा की ज्योति चेतन एवं दिव्य है तथा सूर्य आदि

---

१. गीता (१२.३) अक्षरब्रह्म अनिर्देश्य, अव्यक्त है।

की ज्योति भौतिक होने के कारण जड है। सूर्य, चन्द्र आदि उसके प्रकाश से ही देदीप्यमान होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह जड जगत् प्रकाशित है अर्थात् उसके प्रभाव से ही अस्तित्ववान् है तथा संचालित होता है। (यह 'अनुभाति' और 'विभाति' का अर्थ है।) परमात्मा ज्योतियों की भी ज्योति अथवा समस्त प्रकाश का मूल है।

परमाणुओं के भीतर और उनके मूल में ऊर्जा है तथा ऊर्जा के भीतर और उसके मूल में परमात्मा की चित्शक्ति है। परमात्मा चैतन्यस्वरूप है। जड पदार्थों में चेतनाशक्ति प्रसुप्त है तथा वह वृक्षों आदि वनस्पति में अल्प जाग्रत् है और चेतन प्राणियों में विशेष जाग्रत् है। चेतना ही सब कुछ है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही जगत् का आश्रय है। यह सब कुछ उसीसे उत्पन्न होता है, उसीसे संचालित होता है तथा उसीमें विलीन होता है।

ध्यानयोग ज्ञानयोग का पूरक है, उससे संबद्ध है। ध्यानयोगी परमात्मा की दिव्य ज्योति का साक्षात्कार अपने भीतर करते हैं।[१] आत्मा में संस्थित प्रकाश दिव्य है।

सूर्य, चन्द्र आदि के जड प्रकाश से उसे नहीं समझा जा सकता है।[२] वह अचिन्त्य है तथा ध्यान की उच्चावस्था में उस अधूम ज्योति की अनुभूति होती है।[३] दिव्य चक्षु से ही उसका साक्षात्कार होता है।[४]

विराट् दिव्य चेतना में संस्थित ध्यानयोगी का अहंकार दिव्य हो जाता है तथा उसकी अनुभूति होती है—**अहं ब्रह्मास्मि** (मैं ब्रह्म हूँ)। **'अहं ब्रह्मास्मि'** एक अनुभूति है, मात्र शब्द कहकर ऐसा मान लेना हास्यास्पद है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो अपने भीतर सूक्ष्म आनन्दलोक में रहते हैं और दिव्य ज्योति का दर्शन करते हैं।



---

१. **ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।**
   योगी ध्यान में उसका दर्शन करते हैं।
२. गीता (११.१२) में उस दुर्निरीक्ष्य महाप्रकाश की चर्चा है।
३. **ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ उप०, २.१.१३)।
४. **दिव्यं ददामि ते चक्षुः** (गीता, ११.८)।

द्वितीय अध्याय

तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद् वै तत्॥ १॥

शब्दार्थ : ऊर्ध्वमूलः = ऊर्ध्व (ऊपर) मूलवाला; **अवाक्शाखः** = नीचे की ओर शाखावाला; **एषः सनातनः अश्वत्थः** = यह सनातन अश्वत्थ (पीपल का वृक्ष); **तत् एव शुक्रम्** = वह ही विशुद्ध तत्त्व (है)। **तत् ब्रह्म** = वह ब्रह्म (है); **तत् एव अमृतम् उच्यते** = वह ही अमृत कहलाता है; **सर्वे लोकाः तस्मिन् श्रिताः** = सब लोक उसके आश्रित हैं; **कश्चन उ तत् न अत्येति** = कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। **एतद् वै तत्** = यही तो वह है।

वचनामृत : ऊपर की ओर मूलवाला और नीचे की ओर शाखावाला यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है। वह विशुद्ध तेजोमय तत्त्व है, वह ब्रह्म है। वह अमृत कहा जाता है। समस्त लोक उसमें आश्रय लेते हैं (प्रतिष्ठित हैं)। कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। यही वह है (जिसे तुम खोज रहे हो)।

सन्दर्भ : यह एक प्रख्यात मंत्र है। इसके अनेक अर्थ किये गये हैं। शङ्कराचार्य ने इसकी व्याख्या अत्यन्त विस्तार से की है।

दिव्यामृत : यह संसार एक अश्वत्थ वृक्ष के सदृश है, किन्तु इसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह सनातन है अर्थात् अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु नित्य (शाश्वत) नहीं है। यह परिवर्तनशील है। यह अव्यय और अपरिच्छिन्न प्रतीत होते हुए भी ऐसा नहीं है। यह जड अर्थात् नाशवान् ही है। यह चैतन्य तत्त्व से संचालित एवं गतिशील होता है। अश्वत्थ वृक्ष के रूपक से संसार की आध्यात्मिक व्याख्या की जाती है।[१]

---

१. श्व का अर्थ है आनेवाला कल। अश्वस्थ की व्युत्पत्ति है—श्व अर्थात् कल ऐसा ही स्थित न रहनेवाला है, निरन्तर परिवर्तनशील तथा गतिशील है। **संसरतीति संसारः; गच्छतीति जगत्।**

गीता में भी संसारवृक्ष का वर्णन (१५.१, २, ३, ४) किया गया है।

संसार को वृक्ष कहने का आशय यह है कि इसका छेदन हो सकता है।[1] ज्ञानी पुरुष वैराग्य से इसका उच्छेद कर लेते हैं।

संसारवृक्ष में मूल अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके मूल में परमात्मा ही स्थित है, जिससे इसकी उत्पत्ति होती है।[2] मूल के ऊर्ध्व होने का भाव यह भी है कि वह महान् एवं पूज्य है। मूल का ज्ञान होने पर अथवा परमात्मा का ज्ञान होने पर इसके रहस्य का ज्ञान हो जाता है। परमात्मा कारण है तथा संसार कार्य है। कारण में कार्य छिपा हुआ रहता है। सात्त्विक गुण (सत्त्व) के विकास से मनुष्य ऊर्ध्वता की ओर प्रवृत्त होता है तथा राजस और तामस गुण (रज, तम) की वृद्धि होने से मनुष्य अधः (नीचे की ओर) गिरने लगता है। भौतिक वासनाएँ मनुष्य को पतनोन्मुख कर देती हैं।

जिस प्रकार वृक्ष में शाखाएँ, पर्ण, फल आदि उसका विस्तार करते हैं, उसी प्रकार लोक, नाना पदार्थ और प्राणी संसार का विस्तार करते हैं। वास्तव में ब्रह्म ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल अर्थात् कारण है और इसमें ओतप्रोत है। ब्रह्म ही ब्रह्माण्डरूप में व्यक्त है।

परब्रह्म विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है और उसे अमृत अर्थात् अविनाशी एवं आनन्दस्वरूप कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसके आश्रित हैं। उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही तो वह है, जिसे नचिकेता जानना चाहता है।

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २॥

शब्दार्थ : निःसृतम् = निकला हुआ, उत्पन्न हुआ ; **इदम् यत् किं च** = यह जो कुछ भी; **सर्वम् जगत्** = सारा जगत् है; **प्राणे एजति** = प्राण में चेष्टा करता है; **एतत् उद्यतम् वज्रम महत् भयम् ये विदुः** = इस उठे हुए वज्र (के समान) भयरूप (शक्तिशाली) को जो जानते हैं; **ते अमृताः भवन्ति** = वे अमृत हो जाते हैं।

छान्दोग्य उप० (६.१२.१, २, ३) सद् ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ, जैसे न्यग्रोध (वट) बीज से महावृक्ष होता है।

ऋग्वेद में भी वृक्ष की चर्चा है, जिसकी किरणों की जड़ें ऊपर हैं तथा किरणें नीचे की ओर प्रसारित होती हैं।

श्वेत० उप० (६.६) में संसार-वृक्ष की चर्चा है।

१. **वृक्षश्च व्रश्चनात्**—विच्छेद होने से वृक्ष कहलाता है।

२. **विष्णोः परमं पदम्**—इसका मूल विष्णु का परमपद है।

वचनामृत : (परमात्मा से) निकला हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, प्राण (प्राणरूप परमेश्वर) में चेष्टा करता है (गतिशील होता है)। इस उठे हुए वज्र के समान महान् भयरूप परमेश्वर को जो जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।

सन्दर्भ : परमात्मा समस्त गति का कारण है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति (कठोप०, २.३.९ तथा श्वेत० उप०, ३.१ और ३.१०) में भी है।

दिव्यामृत : यह जगत् परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न होता है। परमात्मा इस जगत् का निमित्तकारण तथा उपादानकारण है।[१] परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त एवं ओतप्रोत है। जगत् की गतिशीलता (एजन अर्थात् कम्पन, गमन, चेष्टा) का आधार परमात्मा ही है। जगत् प्राणस्वरूप ब्रह्म से प्रादुर्भूत होकर गतिशील होता है। परमात्मा की प्राणशक्ति उसमें प्रच्छन्न तथा उससे अभिन्न है।

परमात्मा के भय अर्थात् कठोर अनुशासन से जगत्चक्र चलता है, जैसे किसी शासक के ऊपर उठाये हुए वज्र (शस्त्र) को देखकर अनुचर कर्मरत होते हैं। परमात्मा की प्रच्छन्न मायाशक्ति अथवा प्रकृति का एक कठोर विधान है, जिसे मनुष्य अपनी अल्पबुद्धि से नहीं जान पाता तथा जिसके द्वारा मनुष्यों को उनके कर्मानुसार सुख और दुःख अथवा पुरस्कार और दण्ड प्राप्त होते हैं। परमात्मा की विश्वव्यवस्था के नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता।[२]

जो परमेश्वर के तेज और प्रताप को भली प्रकार समझ लेते हैं, वे ज्ञानयोग द्वारा अमृत अर्थात् समस्त भय से मुक्त तथा आनन्दमय हो जाते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥

शब्दार्थ : अस्य भयात् अग्निः तपति = इसके भय से अग्नि तपता है; **भयात् सूर्यः तपति** = भय से सूर्य तपता है; **च भयात् इन्द्रः वायुः** = और भय से इन्द्र, वायु; **च पञ्चमः मृत्युः धावति** = और पाँचवाँ मृत्युदेवता दौड़ता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होता है।

वचनामृत : इसके भय से अग्नि तपता है, इसके भय से सूर्य तपता है, इसके भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्युदेवता कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

---

१. कुम्भ के निर्माण में कुम्भकार निमित्तकारण तथा मिट्टी उपादानकारण होती है। परमेश्वर (मायासहित ब्रह्म) इस जगत् का निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों ही है। मायारहित, विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म कोई रचना नहीं करता।

२. **कर्म प्रधान विस्व करि राखा, जो जस करई सो तस फल चाखा।**

सन्दर्भ : परमात्मा के तेज का वर्णन है। इस मंत्र से मिलता हुआ मंत्र तै० उप० (२.८) में भी है।

दिव्यामृत : विश्व की परम सत्ता एक परब्रह्म परमात्मा ही है। परमात्मा ही इस विश्व का धारण, पोषण एवं संचालन करता है। उसके सामर्थ्य से इस विश्व की व्यवस्था होती है। उसके प्रताप से अग्नि में दाहकता है तथा सूर्य में तेज है। इन्द्र, वायु आदि देव उसकी ही विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं।

मृत्यु जो विकराल प्रतीत होती हैं और प्राणियों का प्राण हरण करने के लिए मानो व्याध की भाँति भागकर उनको कवलित कर देती है, परमात्मा के कठोर विधान के कारण ही प्रवृत्त होती है। मृत्यु भी परमात्मा की ही एक विभूति है, मानो परमात्मा का एक रूप है।[१] जो विवेकशील पुरुष मृत्यु के स्वरूप को जानकर उसके भय से भयभीत नहीं होते तथा उसमें परमात्मा का दर्शन करते हैं, उनके लिए मृत्यु एक महोत्सव हो जाती है। मृत्यु एक विवेकप्रद गुरु है। शरीर का विनाश होता है, आत्मा तो अविनाशी है। जो स्वयं को चैतन्यस्वरूप आत्मा मानता है, उसे मृत्यु का भय और शोक नहीं होते। जो एकाक्षर ब्रह्म (ॐ) का स्मरण करते हुए प्राणविसर्जन करता है, वह परमगति को प्राप्त कर लेता है।[२] अज्ञानी मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता रहता है।[३] जड देह की मृत्यु होने पर चैतन्य आत्मा शेष रह जाता है, जो अविनाशी है।[४] आत्मज्ञानी मृत्यु के भय का अतिक्रमण कर देता है तथा समस्त भयों से मुक्त होकर अभय हो जाता है।

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ ४॥

शब्दार्थ : चेत् = यदि; **शरीरस्य विस्रसः प्राक्** = शरीर के पतन (विनाश) से पूर्व; **इह** = यहाँ इस शरीर में ही; **बोद्धुम् अशकत्** = जानने में समर्थ हो सका; **ततः सर्गेषु लोकेषु** = अन्यथा सर्गों (कल्पों) में, लोकों में; **शरीरत्वाय कल्पते** = शरीरभाव को प्राप्त होने में; शरीर-धारण करने में विवश होता है।

वचनामृत : यदि देह छूटने से पूर्व, इस देह में ही आत्मसाक्षात्कार होने

१. **मृत्युः सर्वहरश्चाहम्** (गीता, १०.३४)
२. गीता (८.१३)
३. कठोपनिषद् (२.१.२, १०, ११)
४. कठोपनिषद् (२.२.४)

में समर्थ हो सका (तो ठीक है, सौभाग्य है), अन्यथा कल्पों तक लोकों में शरीरभाव को प्राप्त करता रहेगा।

सन्दर्भ : इस देह के रहते हुए ही आत्मसाक्षात्कार कर लेना चाहिए। 'सर्ग' के अनेक अर्थ किये गये हैं।

दिव्यामृत : मानव-जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि यह है कि मनुष्य जीवनकाल में ही, देह के छूटने से पूर्व, विश्व की परम सत्ता का साक्षात्कार कर ले तथा अपने भीतर संस्थित चिन्मय आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति कर ले। अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से इसे जीवन की कृतार्थता कहा है। कोई प्राणी अन्य योनि में दिव्यता का ऐसा अनुभव नहीं कर सकता किन्तु विकास-प्रक्रिया के शिखर पर स्थित मनुष्य इसी जीवन में अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता है। यदि मनुष्य-योनि प्राप्त करके वह मुक्तात्मा होने के परम लाभ से वंचित रह जाता है तो महान् विनष्टि है।[१] ब्रह्म की दिव्यानुभूति होना जीवन की सार्थकता है। यदि मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति नहीं करता तो वह शरीरभाव में भटकता ही रहता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[२]

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥ ५॥

शब्दार्थ : यथा आदर्शे तथा आत्मनि = जैसे दर्पण में, वैसे अन्तःकरण में; **यथा स्वप्ने तथा पितृलोके** = जैसे स्वप्न में, वैसे पितृलोक में; **यथा अप्सु तथा गन्धर्वलोके** = जैसे जल में, वैसे गन्धर्वलोक में; **परिददृशे इव** = दीखता-सा है; **ब्रह्मलोके छायातपयोः इव** = ब्रह्मलोक में छाया और आतप (धूप) की भाँति।

वचनामृत : जैसे दर्पण में (प्रतिबिम्ब दीखता है), जैसे शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म (दर्शन होता है), जैसे स्वप्न में, वैसे पितृलोक में, जैसे जल में, वैसे गन्धर्वलोक में (परमात्मा) दीखता-सा है। ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति (पृथक्-पृथक् दीखते हैं।)

सन्दर्भ : स्थानभेद होने पर भी परमात्मा के अनुभवों में एक तारतम्य है।

---

१. केन उपनिषद् (२.५) में कहा है कि यदि मनुष्य शरीर के रहते हुए परब्रह्म को जान लेता है तो धन्य है, अन्यथा महान् विनाश है। बृह० उप०, ८.१० तथा ४.४.१४ में भी यही कहा गया है।

२. **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** (मुण्डक उप०, ३.२.९)—ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** (तै० उप०, २.१.१)

कठोपनिषद्, मन्त्र १.३ में छाया-आतप की चर्चा है।

दिव्यामृत : परमात्मा का दर्शन मानव-देह के भीतर ही होना नितान्त संभव है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीख जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के निर्मल अन्तःकरण में भी परमात्मा का दर्शन संभव हो जाता है। मनुष्य का अन्तःकरण काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, राग, द्वेष, भय, चिन्ता आदि विकारों से आच्छादित होने पर वह परमात्मा का दर्शन अर्थात् उसका अनुभव नहीं कर सकता। शुद्ध एवं निर्मल अन्तःकरण परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार स्वप्न में कामनाओं के अनुसार अनेक प्रकार के कल्पित दृश्य दिखाई देते हैं, जिनमें कोई सामंजस्य नहीं होता, उसी प्रकार सकाम कर्मों से प्राप्त पितृलोक में ब्रह्म का अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट दर्शन होता है। जिस प्रकार मलिन एवं चंचल जल में प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में ब्रह्म का दर्शन अस्पष्ट होता है। ब्रह्मलोक श्रेष्ठ लोक है, जिसमें आत्मा और ब्रह्म छाया और प्रकाश की भाँति स्पष्ट दीख जाते हैं। वृक्ष की छाया अन्धकार नहीं होती तथा अल्पप्रकाश होती है। आत्मा और ब्रह्म के एक होने पर अल्प और पूर्ण का भेद नहीं रहता।

मनुष्य का देह भी एक लोक है तथा इसके भीतर ब्रह्मसाक्षात्कार के अनेक स्तर ही मानो अनेक लोक हैं। मनुष्य का चित्त भी एक संसार है, जिसमें मनुष्य जन्म, मरण, पुनर्जन्म, लोक-लोकान्तरों का तथा बन्धन और मोक्ष का अनुभव करता है।[1] मनुष्य अपने भीतर ही चेतना की अनेक परतों में अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों पर ब्रह्म की आंशिक अनुभूति करता है तथा अन्त में ब्रह्म के साथ तादात्म्य (तद्रूपता, एकात्मता, एकता) होने पर दोनों का अभेद हो जाता है। वह **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) की अनिर्वचनीय अवस्था अथवा पूर्णत्व की अवस्था है। ब्रह्म ही ब्रह्मलोक है।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥ ६॥

शब्दार्थ : पृथक् उत्पद्यमानानाम् इन्द्रियाणां = पृथक् उत्पन्न हुई इन्द्रियों का; **यत् पृथक् भावम्** = जो पृथक् भाव (स्वरूप, सत्ता है); **च उदयास्तमयौ (भावम्)** = और (उनका जो) उदय तथा अस्त (लय) हो जाना (स्वभाव है); **मत्वा** = (उसे) जानकर; **धीरः न शोचति** = धीर पुरुष शोक नहीं करता।

---

१. **चित्तमेव हि संसारः तत्प्रयत्नेन शोधयेत्** (मैत्रेयी उपनिषद्)

वचनामृत : पृथक्-पृथक् भूतों से उत्पन्न इन्द्रियों के जो विभिन्न भाव (पृथक् स्वरूप) हैं तथा उनका जो उदय और अस्त होना है, उसे जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

सन्दर्भ : इन्द्रियाँ नाशवान् हैं।

दिव्यामृत : प्राणियों की इन्द्रियाँ विभिन्न भूतों से उत्पन्न होती हैं तथा उनके पृथक्-पृथक् प्रयोजन होते हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होती हैं तथा वे आत्मा से पृथक् होती हैं। उनका उदय होता है तथा अस्त होता है, किन्तु चेतन आत्मा सदैव एकरस एवं अपरिवर्तनशील है। बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियों को आत्मा से पृथक् तथा नाशवान् जानकर उनके संबंध में शोकाकुल नहीं होते।

सांख्य-दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति अव्यक्त है तथा उसके तेईस तत्त्व व्यक्त हैं। पुरुष तथा प्रकृति और तेईस तत्त्व मिलकर कुल पच्चीस तत्त्व सृष्टि की रचना के कारण हैं। प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् (बुद्धि) तत्त्व से अहंकार तथा अहंकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच सूक्ष्मभूत (पाँच तन्मात्रा) उत्पन्न होते हैं।[१] श्रोत्र (कान), त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण (नासिका) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक् (वाणी), पाणि, पाद, पायु (मलत्याग की इन्द्रिय) और उपस्थ (मूत्रत्याग की इन्द्रिय) पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पाँच सूक्ष्मभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं तथा आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल और पृथ्वी पाँच स्थूलभूत (महाभूत) हैं। इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् विषय हैं, जैसे श्रोत्र का विषय शब्द है तथा उनके पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं, जैसे श्रोत्र का प्रयोजन सुनना है।

मनुष्य की जाग्रत्-अवस्था में मन तथा इन्द्रिय सक्रिय रहते हैं। यह मानो उनका उदय है। मनुष्य की स्वप्नावस्था में मन सक्रिय रहता है तथा इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, यद्यपि स्वप्न में इन्द्रियों की सक्रियता प्रतीत होती है। मनुष्य की सुषुप्तावस्था में मन तथा इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहते हैं। यह मानो उनका अस्त होना है। धीर अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष देह, मन और इन्द्रियों को नित्य चेतन आत्मा से पृथक् जानकर तथा उनके कार्यकलाप को अपने स्वरूप से पृथक् जानकर शोक, भय और चिन्ता से ग्रस्त नहीं होता।[२] ज्ञान तथा ध्यान की उच्चावस्था

---

१. ऐतरेय उपनिषद् (१.१.४, १.२.४) में इन्द्रियों की उत्पत्ति का वर्णन प्रकारान्तर से किया गया है।

२. **तरति शोकमात्मवित्** (छा० उप०, ७.१.३)
उपनिषदों तथा भगवद्गीता में शोक, भय, चिन्ता आदि से मुक्त होने का उपदेश अनेक स्थानों पर तथा अनेक प्रकार से किया गया है।

में मनुष्य की अन्तश्चेतना मन और बुद्धि से भी परे जाकर मात्र साक्षी हो जाती है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ ७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

शब्दार्थ : इन्द्रियेभ्यः मनः परम् = इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ, ऊँचा और सूक्ष्म (है); **मनसः सत्त्वम् उत्तमम्** = मन से बुद्धि उत्तम है; **सत्त्वात् महान् आत्मा अधि** = बुद्धि से महान् आत्मा (महत् तत्त्व, समष्टि बुद्धि अथवा हिरण्यगर्भ) ऊँचा है; **महतः अव्यक्तम् उत्तमम्** = महान् आत्मा (महत् तत्त्व, समष्टि बुद्धि अथवा हिरण्यगर्भ) से अव्यक्त (प्रकृति) उत्तम है।

तु अव्यक्तात् व्यापकः च अलिङ्गः एव पुरुषः परः = परन्तु (तथा) अव्यक्त से (भी) व्यापक और अलिङ्ग (आकाररहित) पुरुष श्रेष्ठ (है); **यम् ज्ञात्वा जन्तुः मुच्यते** = जिसे जानकर जीवात्मा मुक्त हो जाता है; **च अमृतत्वम् गच्छति** = और अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

वचनामृत : इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ अथवा सूक्ष्म है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से महान् आत्मा (समष्टि बुद्धि, महत् तत्त्व, अथवा हिरण्यगर्भ) उत्तम है, महान् (महत् तत्त्व) से अव्यक्त उत्तम है। परन्तु अव्यक्त से भी व्यापक और अलिङ्ग पुरुष श्रेष्ठ है, जिसे जानकर जीवात्मा मुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

सन्दर्भ : सूक्ष्मता के आधार पर श्रेष्ठता का क्रम वर्णित है। गीता का श्लोक ३.४२ मंत्र ७ के समान है। इन मंत्रों के अनेक अर्थ किये गये हैं।

दिव्यामृत : मनुष्य की इन्द्रियाँ स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म तथा अधिक श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियाँ मन के वशीभूत एवं अधीन रहती हैं, अतः मन इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और बलवान् है। जब मन में ऊहापोह होता है, बुद्धि निर्णय करती है। बुद्धि मन से अधिक सूक्ष्म, श्रेष्ठ और ऊँची है। व्यष्टि बुद्धि (व्यक्ति की बुद्धि) की अपेक्षा समष्टि बुद्धि (महत् तत्त्व) अधिक श्रेष्ठ होती है। महत् तत्त्व की अपेक्षा अव्यक्त (प्रकृति) अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि महत् तत्त्व कार्य है तथा अव्यक्त उसका कारण है। परन्तु चैतन्य पुरुष अव्यक्त प्रकृति को संचालित करता है और श्रेष्ठ एवं सनातन तत्त्व है।[१] पुरुष व्यापक होता है तथा उसका कोई लिङ्ग (चिह्न) अथवा

१. गीता (८.२०) में इसकी चर्चा है।

आकार नहीं होता। चैतन्य पुरुष ही ब्रह्म है। उसे जानने पर मनुष्य का जीवात्मा निर्बन्ध अथवा मुक्त हो जाता है। मनुष्य अपने चैतन्य, अमृतस्वरूप को जानकर धन्य हो जाता है। ब्रह्म को जानकर धीर पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

शब्दार्थ : अस्य रूपम् संदृशे न तिष्ठति = इसका रूप प्रत्यक्ष नहीं ठहरता; **कश्चन एनं चक्षुषा न पश्यति** = कोई इसे चक्षु से नहीं देख पाता; **मनसा अभिक्लृप्तः हृदा मनीषा (दृश्यते)** = मन से चिन्तन में लाया हुआ (निर्मल) हृदय से, (विशुद्ध) बुद्धि से देखा जाता है; **ये एतद् विदुः ते अमृताः भवन्ति** = जो इसे जानते हैं, वे अमृतस्वरूप हो जाते हैं।

वचनामृत : इसका रूप प्रत्यक्ष नहीं ठहरता। कोई इसे नेत्र से नहीं देख पाता। इसे मन (मनन) के द्वारा गृहीत होने पर, (निर्मल) हृदय द्वारा (विशुद्ध) बुद्धि से (अर्थात् हृदय में स्थित बुद्धि के भीतर) देखा जाता है। जो इसे जानते हैं, वे अमृतस्वरूप हो जाते हैं।

सन्दर्भ : मंत्र ९ से १५ तक सभी मंत्र परस्पर जुड़े हैं। मंत्र ९ का पूर्वार्द्ध श्वेत० उप०, ४.२० तथा उत्तरार्द्ध ४.१७ में इसी प्रकार है।

दिव्यामृत : परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा उसका स्वरूप रहस्यमय है। मनुष्य की स्थूल दृष्टि परमात्मा के स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकती। उसे चर्म-चक्षुओं से देख पाना संभव नहीं है। उसकी दिव्यानुभूति अपने भीतर ही होती है। जब मनुष्य मनन द्वारा दृढता से उसे ग्रहण कर लेता है, तब वह निर्मल हृदय के भीतर स्थित विशुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरहित निर्मल बुद्धि में परम ज्योति का साक्षात्कार कर लेता है। परमात्मा को जान लेने पर अर्थात् अपने भीतर उसका अनुभव होने पर मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है।[1]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ १०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥

शब्दार्थ : यदा मनसा सह पञ्च ज्ञानानि अवतिष्ठन्ते = जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भली प्रकार स्थित हो जाती हैं; **च बुद्धिः न विचेष्टति** =

१. **य एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति** (कठोप०, २.३.२ श्वेत० उप०, ३.१, ३.१०) यही भाव मुण्डक उप० (३.१.८) में व्यक्त हुआ है।

और बुद्धि चेष्टा नहीं करती; **ताम् परमाम् गतिम् आहुः** = उसे परमगति कहते हैं।

ताम् स्थिराम् इन्द्रियधारणाम् योगम् इति मन्यते = उस स्थित इन्द्रियधारणा को 'योग' मानते हैं। **हि तदा अप्रमत्तः भवति** = क्योंकि तब प्रमादरहित हो जाता है; **योगः प्रभवाप्ययौ** = योग उदय और अस्त होनेवाला है।

वचनामृत : जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भली प्रकार स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चेष्टा नहीं करती, उसे परमगति कहते हैं। उन इन्द्रियों की स्थिरधारणा को योग मानते हैं, क्योंकि तब प्रमादरहित हो जाता है। योग उदय और अस्त होनेवाला है। (योग प्रभव और अप्ययवाला है—इसका एक अन्य अर्थ किया गया है कि योग शुभ के उदय और अशुभ के अस्तवाला है।)

सन्दर्भ : ध्यानयोग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के दूसरे साधन का वर्णन किया गया है। इन दोनों श्लोकों को कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

दिव्यामृत : परमात्मा की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती।[१] यह जगत्, जीवन और उनका संचालन एवं धारक परमात्मा क्या है ? परमात्मा का स्वरूप क्या है ? उसे प्राप्त करने का क्या मार्ग है ? यह सब ज्ञान के अन्तर्गत है। किन्तु मात्र मानचित्र देखने और समझने से गन्तव्य स्थान की प्राप्ति नहीं हो जाती। आध्यात्मिक ग्रन्थों को मात्र पढने और पढाने तथा चर्चा करने को व्यसन कहा गया है तथा जो मनन, अभ्यास और आचरण करता है, उसे दुर्लभ दिव्य प्रकाश सुलभ हो जाता है।[२]

संसार में परमात्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है, क्योंकि परमात्मा के जानने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[३] आत्मज्ञान से बढकर अन्य कोई ज्ञान नहीं है। अध्यात्मविद्या परा विद्या है।[४]

ध्यानयोग ज्ञानयोग का अङ्ग अथवा पूरक ही है तथा उससे भिन्न नहीं है।

---

१. **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**

२. **पठकः पाठकश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।**
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः॥
—पढने और पढानेवाले तथा अन्य शास्त्र-चर्चा करनेवाले व्यसनी मूर्ख हैं। जो क्रियावान् है, वह पण्डित है।

३. **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्।** (बृ० उप०, २.४.५)

४. मुण्डक उप० (१.१.५)

ध्यानयोग की चर्चा अनेक उपनिषदों तथा ग्रन्थों में की गई है।[1] चैतन्यस्वरूप आत्मा त्रिगुणातीत एवं देहातीत है। चैतन्य आत्मा के चित्स्वरूप एवं आनन्द-स्वरूप में स्थित होना मनुष्य की प्राप्तव्य परमावस्था अथवा उच्चावस्था है। यह चैतन्य भी जाग्रत्-अवस्था है, जिसमें मनुष्य देह, इन्द्रियों और मन का अतिक्रमण करके संस्थित हो सकता है। योगाग्नि मनुष्य के दैहिक एवं मानसिक विकारों को विनष्ट कर देती है तथा मनुष्य निर्द्वन्द्व, निर्भय और आनन्दमय हो जाता है।[2]

ज्ञान एवं ध्यान के अभ्यास से मनुष्य को परमगति अथवा परमस्थिति प्राप्त हो जाती है। ध्यानयोग की साधना करते हुए जब पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और मन शान्त और स्थिर हो जाते हैं तथा बुद्धि भी शान्त एवं चेष्टाशून्य हो जाती है, उस अवस्था को परमपद अथवा परमगति कहा जाता है। ऐसी उच्चावस्था अत्यन्त दुर्लभ, दुष्प्राप्य एवं अनिर्वचनीय होती है। यह मानव-जीवन की श्रेष्ठ एवं उच्चतम उपलब्धि होती है। इस आन्तरिक जागरण की अवस्था में मनुष्य न केवल पूर्ण विश्रान्ति का ही अनुभव करता है, बल्कि परमानन्द की अनुभूति भी कर लेता है।[3] इसे प्रगाढ निद्रा के सदृश मान लेना अविवेक है। मनुष्य परमावस्था (समाधि) में आत्मा की दिव्यानुभूति करके तृप्त एवं धन्य हो जाता है।

ध्यान की अवस्था में मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से निवृत्त हो जाती हैं तथा मन भी संकल्प-विकल्प आदि व्यापार से निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टाशील नहीं रहती। ध्यान की प्रगाढ अवस्था 'समाधि' हो जाती है।

इन्द्रियों एवं मन की स्थिर धारणा को योग कहा जाता है। इसमें मनुष्य

---

१. **'ध्यै चिन्तायाम्।'**
ध्यानयोग की चर्चा कठोप० (२.३.१०, ११), मुण्डक उप० (२.२.४, ३.१.८), श्वेत० उप० (१.३; १.१०, १२, १४ तथा २.६ इत्यादि) तथा भगवद्गीता में है। महाभारत के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में भी ध्यान की चर्चा है।
पतजलि के योगदर्शन, घेरण्ड संहिता आदि में ध्यान की विस्तृत चर्चा है। ध्यान-प्रक्रिया पर विशद चर्चा "जीवन और सुख" के द्वितीय अध्याय में है।

२. **न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्** (श्वेत० उप०, २.१२)

३. **समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति** (बृह० उप०, ४.४.२३)
—समाहित होकर ही अपने आत्मा को देखता है।
भगवद्गीता में इन्द्रियों तथा मन के संयम तथा ध्यान की पर्याप्त चर्चा है (६.२७, २८, ३६) **'गीता-रसामृत'** में अनेक स्थलों पर ध्यान पर विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रमादरहित अर्थात् एकाग्र होकर आत्मचैतन्य में संस्थित हो जाता है तथा आनन्दवर्षा एवं आनन्दमग्रता का अद्भुत अनुभव करता है। परमात्मा के साथ एकत्वरूप योग में उदय और अस्त अथवा उत्पत्ति और लय होते हैं। अतएव योगी को अप्रमत्त अर्थात् सावधान रहना चाहिए।[१]

मनुष्य जब तक इन्द्रियसुखभोग की तृष्णा से मुक्त नहीं होता अर्थात् भौतिक आकर्षणों से मुक्त नहीं होता तथा राग-द्वेष, भय और क्रोध का त्याग नहीं करता, तब तक मन कदापि शान्त नहीं होता। अतएव मनुष्य को विवेक द्वारा मन की वासनाओं के शमन एवं संयम का अभ्यास करना चाहिए।

जब मन इन्द्रियों की दासता से अर्थात् विषयों के आकर्षण से मुक्त हो जाता है, तब वह भाररहित और पारदर्शी होकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है और आत्माभिमुख होकर आत्मा की ओर गतिमान् हो जाता है, मानो वह आत्मा के गुरुत्वाकर्षण से आकृष्ट हो जाता है। निर्मल और सशक्त मन आत्मा का साक्षात्कार करा देता है। वास्तव में मन का आत्मचैतन्य में विलय हो जाता है, जिसे मन की मृत्यु भी कहते हैं तथा केवल आत्मचैतन्य शेष रह जाता है। यह आनन्दावस्था होती है।

बुद्धिमान् पुरुष मन और इन्द्रियों का दमन नहीं करता, बल्कि विवेक द्वारा उनका शमन करता है। बुद्धिमान् पुरुष चित्तवृत्तियों का शोधन करके उनका उदात्तीकरण कर देता है अर्थात् उनको उत्तम दिशा प्रदान कर देता है। परमात्मा से प्रार्थना करना मन को पवित्र करने और उसे संबल प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२॥

शब्दार्थ : न वाचा न मनसा न चक्षुषा एव प्राप्तुं शक्यः = न वाणी से, न मन से, न चक्षु से ही प्राप्त किया जा सकता है; **तत् अस्ति** = वह है; **इति ब्रुवतः अन्यत्र कथम् उपलभ्यते** = ऐसा कहनेवाले के (कथन के) अतिरिक्त वह कैसे प्राप्त हो सकता है ?

वचनामत : वह न वाणी से, न मन से, न चक्षु से ही प्राप्त किया जा सकता है, 'वह है' ऐसा कहनेवाले के (कथन के) अतिरिक्त उसे अन्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? (अथवा, 'वह है' ऐसा कहने के अतिरिक्त उसे अन्य प्रकार से कैसे प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् उस निर्विशेष को

---

१. यही भाव भगवद्गीता (६.२६) में कहा गया है। पालि में अप्रमाद को अप्पमाद कहते हैं।

विश्वास करने के अतिरिक्त कहा ही नहीं जा सकता है। बस, वह है, इतना विश्वास ही पर्याप्त है।)

सन्दर्भ : परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण क्या है ?

दिव्यामृत : समस्त ज्ञान-ग्रन्थ एक स्वर से घोषित करते हैं कि परमात्मा का ग्रहण न वाणी से, न मन से और न चक्षु से ही होना संभव है, तो फिर इसके अतिरिक्त क्या कोई अन्य प्रमाण हो सकता है कि आप्त पुरुष अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर ऐसा कहते हैं ? यह एक ऐसा विचित्र प्रश्न है, जिसमें उसका उत्तर भी निहित है। परमात्मा परमसूक्ष्म तत्त्व है तथा उसका ग्रहण वाणी, मन और चक्षु से होना संभव नहीं है, तथापि परमात्मा के अस्तित्व को आप्त पुरुष अपने चिन्तन और अनुभव के आधार पर प्रमाणित करते हैं। आप्त पुरुषों के आप्त वाक्य निस्सन्देह विश्वसनीय शब्दप्रमाण हैं।

व्यवस्था को देखकर व्यवस्थापक, नियम को देखकर नियामक तथा रचना को देखकर रचयिता का अनुमान किया जाता है, जैसे धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। किन्तु इससे भी बढकर स्वानुभव का प्रमाण होता है।[१] सारे संसार में आप्त पुरुषों ने गहन साधना और चिन्तन के आधार पर विश्व में एक सूक्ष्म, दिव्य सत्ता की परिकल्पना की तथा अपने भीतर उसकी स्वानुभूति की। यद्यपि उस परम सत्ता के वर्णन विभिन्न हैं तथा उसकी प्राप्ति के उपाय भी विभिन्न हैं, तथापि सब चिन्तक मनीषियों ने सत्ता के अस्तित्व को अपने-अपने ढंग से मान्य किया है। निश्चय ही परमात्मा की सूक्ष्म दिव्य सत्ता मनुष्य की बुद्धि की सीमा से परे है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३॥

शब्दार्थ : अस्ति = (वह) है; **इति एव उपलब्धव्यः** = ऐसा उपलब्ध करना चाहिए; **(तदनु) तत्त्वभावेन (अपि उपलब्धव्यः)** = (इसके पश्चात्) तत्त्वभाव से (भी उपलब्ध करना चाहिए); **च उभयोः** = और इन दोनों प्रकार से; **अस्ति इति एव उपलब्धस्य (पुरुषस्य)** = (वह) है, ऐसी निष्ठावाले (पुरुष के लिए); **तत्त्वभावः प्रसीदति** = तत्त्वभाव (परमात्मा का तात्त्विक स्वरूप) प्रत्यक्ष हो जाता है।

---

१. महान् दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग ने गहन आध्यात्मिक स्वानुभूति को प्रमाण कहा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण से भी परे स्वानुभूति प्रमाण है।

वचनामृत : वह (परमात्मा) है, ऐसा हृदयंगम करना चाहिए। तदनन्तर उसे तत्त्वभाव से भी ग्रहण करना चाहिए और इन दोनों प्रकार से, वह है—ऐसी निष्ठावाले पुरुष के लिए परमात्मा का तात्त्विक (वास्तविक) स्वरूप प्रत्यक्ष (अनुभवगम्य) हो जाता है।

सन्दर्भ : परमात्मा के अस्तित्व एवं उसके ग्रहण के संबंध में यह महत्त्वपूर्ण मंत्र है। इसे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

दिव्यामृत : परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले मनुष्यों को आस्तिक तथा अस्वीकार करनेवाले मनुष्यों को नास्तिक कहा जाता है। परमात्मा है, ऐसा तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता। वह अनुभवगम्य है। जो परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उनके लिए तर्क की आवश्यकता नहीं है तथा जो उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके लिए सारे तर्क व्यर्थ हैं।

सम्पूर्ण जगत् का संचालन एक रहस्यमयी सूक्ष्म चैतन्य सत्ता द्वारा होता है, जिसे ब्रह्म (महान्) कहा जाता है। वह इस जड जगत् में ओतप्रोत अथवा व्याप्त है, जैसे तिल में तैल अथवा दुग्ध में घृत व्याप्त रहता है। चेतन तत्त्व अचेतन (जड) पदार्थों में मानो प्रसुप्त रहता है। वह पशु-पक्षियों में कुछ जाग्रत् होता है। वह मनुष्य में विकास-प्रक्रिया के कारण अत्यधिक जाग्रत् होता है।[१] मनुष्य में चेतना के विकास के कारण चैतन्य तत्त्व को खोजने और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता होती है।

परमात्मा है तथा उसे तत्त्वभाव से उपलब्ध करना चाहिए—इन दोनों भावों को हृदयंगम करने पर, 'वह अवश्य है', इस प्रकार निश्चय करके परमात्मा की सत्ता को उपलब्ध (स्वीकृत) करनेवाले सच्चे जिज्ञासु के लिए परमात्मा का तात्त्विक (वास्तविक निर्विशेष) स्वरूप स्वयं ही अपने भीतर प्रत्यक्ष हो जाता है।[२] जैसे मेघों के हट जाने से सूर्य स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे ही अविद्या (अज्ञान) के दूर हो जाने पर आत्मा प्रत्यक्ष (प्रकट) हो जाता है।

चेतना को सभी स्वीकार करते हैं। चेतना जीवन का लक्षण है। चेतनाशून्य

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् (२.३.१) में ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त रूप की चर्चा है।

२. **अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद** (तै० उप०, २.६.१)
अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यम् (विवेकचूडामणि, १२७)
—कोई एक स्वयंस्फूर्त नित्य तत्त्व है।
अरूपवदेव हि तत्प्रधानात् (ब्रह्मसूत्र, ३.२.१४)

पदार्थ को जड कहा जाता है। चेतना के स्रोत एवं केन्द्र के रूप में आत्मा हमारे भीतर संस्थित होता है। ज्ञान और ध्यान के द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा की दिव्य अनुभूति अपने भीतर ही होती है। प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा और आत्मा तत्त्वत: एक ही हैं। आत्मा ही परमात्मा है। एक ही चैतन्यस्वरूप ब्रह्म जगत् का आश्रय है तथा सर्वत्र व्याप्त है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा की दिव्य अनुभूति जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। आत्मा परमाणुओं के परस्पर संघात का प्रतिफल नहीं हो सकता। वह तो उनके अस्तित्व एवं सक्रियता का आधार है। वास्तव में ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है तथा जड का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण जड पदार्थ का आधार ब्रह्म अर्थात् महान् चैतन्यसत्ता है। वह अविनाशी है। वह जड पदार्थों की आन्तरिक गतिशीलता का कारण है तथा चेतन प्राणियों की सम्पूर्ण गतिविधि के मूल में संस्थित है। वह विनश्वर पदार्थों में अविनश्वर तत्त्व है।

आप्त (श्रेष्ठ, अनुभवी) पुरुषों ने चिन्तन और अनुभव के आधार पर उद्घोष किया कि एक दिव्य सत्ता है, जिसके अनेक प्रकार के वर्णन किये जाते हैं, तथा अनेक नाम हैं। उसके साक्षात्कार अथवा उसकी दिव्यानुभूति करने का प्रारंभ इस दृढ विश्वास से होता है कि वह है और उसके तात्त्विक स्वरूप की उपलब्धि होनी चाहिए। परमात्मा सबके लिए सुलभ है। परमात्मा की प्राप्ति होने पर मनुष्य पुण्य-पाप, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, यश-अपयश, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से परे जाकर पूर्णता की अमृतमय अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता:।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ १४॥

शब्दार्थ : यदा अस्य हृदि श्रिता: ये कामा: सर्वे प्रमुच्यन्ते = जब इसके हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, (वे) सब छूट जाती हैं; **अथ** = तब; **मर्त्य: अमृत: भवति** = मरणधर्मा मनुष्य अमृत हो जाता है; **अत्र** = यहीं; **ब्रह्म समश्नुते** = ब्रह्म का रसास्वादन कर लेता है।

वचनामृत : जब इस (मनुष्य) के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब छूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृत हो जाता है। यहीं ब्रह्म का रसास्वादन कर लेता है।

सन्दर्भ : यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह मंत्र बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.७) में भी है। मंत्र १४, मंत्र १५ कण्ठस्थ करने के योग्य हैं।

दिव्यामृत : मनुष्य को संसार के मोहप्रपञ्च में बाँधनेवाली उसके हृदय में स्थित भौतिक कामनाएँ होती हैं। जो मनुष्य कामनाओं से ग्रस्त है, वह बद्ध है और सदा अशान्त रहता है तथा जो मनुष्य कामनाओं से ग्रस्त नहीं होता, वह मुक्त है और शान्त रहता है। भौतिक कामनाएँ ही अशान्ति का मुख्य कारण होती हैं। कामनाग्रस्त मनुष्य सदा भटकता ही रहता है। कामनाओं का अन्त नहीं होता। एक कामना दूसरी कामना को उत्पन्न कर देती है।

मनुष्य भौतिक पदार्थों की आसक्ति के कारण उन्हें प्राप्त करने की कामना करता है। यदि कामना-पूर्ति न हो तो मन में निराशा, ग्लानि और क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं। काम्य वस्तु के प्राप्त होने पर मनुष्य उसे सदा अपने वश में रखने की चिन्ता से तथा उसके छूट जाने के भय से ग्रस्त रहने लगता है।[१]

कामनाएँ मनुष्य को ऐसे ही भटकाती रहती हैं, जैसे मृग को मरुभूमि में उसकी तृष्णा भटकाती रहती है। कामनाग्रस्त मनुष्य न जाग्रत् अवस्था में शान्त रहता है और न निद्राकाल में ही।

भौतिक विषयों की आसक्ति मनुष्य को बहिर्मुखी बना देती है तथा वह अन्तर्मुखी होकर आत्मा के दिव्य सौन्दर्य की ओर आकृष्ट नहीं होता। भौतिक कामनाओं की पूर्ति से मनुष्य को आत्यन्तिक तृप्ति नहीं होती तथा भोगवादी मनुष्य को कभी चेतना की उच्चावस्था एवं प्रगाढ आनन्द का अनुभव नहीं होता। वास्तव में आसक्ति (भोगों में फँसना) ही बन्धन का मूल है। आसक्ति एवं भौतिक कामनाएँ चेतना को दूषित और दुर्बल कर देती हैं।

विवेकशील मनुष्य कामनाओं का दमन नहीं करता। दमित कामना कुण्ठा का रूप ले लेती है तथा वह शान्ति का हरण कर लेती है। अशान्त मनुष्य को प्रचुर सुख-सामग्री उपलब्ध होने पर भी सुख का अनुभव नहीं हो सकता। विवेकशील मनुष्य इच्छाओं को नियंत्रित रखता है तथा संयम, सादगी और सन्तोष एवं परोपकारवृत्ति को महत्त्व प्रदान करता है। निश्चय ही धन में दोष नहीं होता, बल्कि धन के प्रलोभन में दोष होता है। धन के प्रलोभन से ग्रसित मनुष्य अन्याय के मार्ग पर चल देता है तथा स्वयं अशान्त रहकर दूसरों को भी अशान्त कर देता है। विवेकशील मनुष्य कामनाओं का उदात्तीकरण

---

१. भौतिक कामनाओं के त्याग का उपदेश भगवद्गीता में (२.५५, २.७०, २.७१ तथा अनेक स्थानों पर) किया गया है।
भगवद्गीता ने अनेक स्थानों पर निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया है।

कर देता है अर्थात् उन्हें उत्तम दिशा दे देता है। वह भय, चिन्ता, क्रोध और शोक से मुक्त हो जाता है।

भौतिक कामनाओं का त्याग कर देने से मनुष्य मानो बन्धनमुक्त होकर चेतना के उच्च स्तर पर स्थित हो जाता है तथा मनुष्य-शरीर रहते हुए ही अमृतस्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्म के परमानन्द का रसास्वादन करके कृतार्थ हो जाता है। ब्रह्म का रसास्वादन ब्रह्मसाक्षात्कार का लक्षण एवं प्रमाण है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ १५॥

शब्दार्थ : यदा हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते = जब हृदय की सब ग्रन्थियाँ भली प्रकार से खुल जाती हैं; **अथ** = तब; **मर्त्यः इह अमृतः भवति** = मरणधर्मा मनुष्य इसी देह में अमृत हो जाता है; **हि एतावत् अनुशासनम्** = निश्चय ही, इतना ही अनुशासन (उपदेश) है।

वचनामृत : जब हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ भली प्रकार से खुल जाती हैं, तब मरणाधर्मा मनुष्य इसी देह में (इसी जीवन में) अमृत हो जाता है (मृत्यु को पार कर लेता है)। बस इतना ही उपदेश है।

सन्दर्भ : यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

दिव्यामृत : मनुष्य की समस्त कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं हो सकती हैं। अपूर्ण अथवा अतृप्त कामनाएँ मन में कुण्ठाएँ (ग्रन्थियाँ) उत्पन्न कर देती हैं, जिनके कारण मनुष्य शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता तथा चिन्ता, भय और क्रोध से अभिभूत होकर दुःखी रहता है। वास्तव में ग्रन्थियाँ अविद्या से ही उत्पन्न होती हैं। उत्तम पुरुष अपनी कामनाओं का दमन नहीं करता, बल्कि विवेक द्वारा उनका शमन कर देता है तथा उन्हें श्रेष्ठ दिशा प्रदान कर देता है।

अदम्य भौतिक कामनाओं की अतृप्ति के कारण उत्पन्न अनेक ग्रन्थियाँ मन की शान्ति को नष्ट कर देती हैं। जिस मनुष्य का मन अनेक ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है, वह परमात्मा के दिव्य रस का आस्वादन करके इसी जीवन में अमृतस्वरूप हो जाता है। आनन्द की परमोच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए यही एकमात्र सूत्र है।

महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का कथन किया—(१) संसार दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों का कारण भी है। (३) दुःखों का अन्त हो सकता है। (४) दुःखों के अन्त होने का एक मार्ग है—अष्टांगिक मार्ग। किन्तु समस्त दुःख और सुख से परे आनन्द की अमृतमय साम्य अवस्था

है, जिसकी प्राप्ति ज्ञान और ध्यान से अपने भीतर ही हो सकती है तथा जिसका उपदेश उपनिषदों में है। (**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**—गीता, २.३८) निश्चय ही इससे बढ़कर कोई अनुशासन अर्थात् अन्तिम उपदेश नहीं हो सकता।

यह मृत्यु पर विजय पाकर अमृतस्वरूप होने का मार्ग है। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, आध्यात्मिक पुरुष के लिए यह प्रश्न ही निरर्थक है। वह इसी देह में ग्रन्थियों से छूटकर जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा ब्रह्म ही हो जाता है।[1] उपदेश के अन्त में अनुशासन दिया जाता है।[2] यह यमाचार्य द्वारा नचिकेता को दिया हुआ अनुशासन (उपदेश का सार, सनातन आदेश) है।

वास्तव में कठोपनिषद् के अध्याय दो की अन्तिम (तीसरी) वल्ली यहाँ समाप्त हुई। मंत्र १६, १७, १८ पुनश्च की भाँति जोड़ दिये गये हैं।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥

शब्दार्थ : हृदयस्य शतम् च एका च नाड्यः = हृदय की सौ और एक नाडियाँ (हैं); **तासाम् एका मूर्धानम् अभिनिःसृता** = उनमें से एक मूर्धा (कपाल) की ओर निकली हुई है; **तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वं एति** = उसके द्वारा ऊपर जाकर अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है; **अन्याः उत्क्रमणे विष्वङ् भवन्ति**

---

१. **योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति** (बृ० उप०, ४.४.६)

—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते जास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक उप०, २.२.८)

—परमात्मा को जान लेने एवं प्राप्त होने पर अविद्यारूप ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं और समस्त शुभ एवं अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। अविद्या के कारण जीवात्मा अपने मूल स्वरूप को भूलकर भौतिक जगत् के प्रलोभनों से ग्रस्त हो जाता है।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई, तब यह जीव कृतारथ होई।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया, विघ्न अनेक करइ तब माया॥

२. **एतदनुशासनम्** (तै०, उप०, १.११.३)—बस, इतना ही अनुशासन (उपदेश का सार, अन्तिम आदेश) है।

= अन्य (सौ) नाडियाँ मरणकाल में (जीवात्मा को) नाना योनियों में जाने के लिए हेतु होती हैं। (**विष्वङ्** = नाना गतिवाली)।

वचनामृत : हृदय की सौ और एक नाडियाँ हैं। उनमें से एक (सुषुम्णा) मूर्धा की ओर निकली हुई है। उसके द्वारा (आरोहण करते हुए) ऊपर जाकर (मनुष्य का जीवात्मा) अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है। अन्य (सौ) नाडियाँ मरण-काल में नाना योनियों में जाने के लिए हेतु होती हैं।

सन्दर्भ : मरण के उपरान्त प्राणों के उत्क्रमण की गति का वर्णन है।

दिव्यामृत : मनुष्य के हृदयकमल से एक सौ एक नाडियाँ निकलती हैं। इनमें से एक सुषुम्णा नाडी (मेरुदण्ड के समानान्तर नाडी) मस्तिष्क में स्थित सहस्रदल कमल की ओर आरोहण करती है।[१] सुषुम्णा नाडी ज्योतिर्मयी एवं चेतनामयी होती है, अन्य नाडियाँ अन्धकारमयी होती हैं। मस्तिष्क के मध्य में चेतना की विशेष सक्रियता रहती है। नवजात शिशु के कपाल के मध्य लघु विवर में हृदय की धड़कन की गूँज स्पष्टतः सुनाई देती है। मृत्यु मात्र हृदय-गति के बन्द होने से नहीं होती, बल्कि मस्तिष्क में स्थित चेतनाकेन्द्र के समापन अथवा अवसान से होती है। जीवात्मा का निवास हृदय-कमल के भीतर स्थित शुद्ध बुद्धि में होता है, किन्तु उसकी सम्पूर्ण गतिविधि का विशेष स्थान (कार्यालय) सम्पूर्ण मस्तिष्क होता है।

ब्रह्मनिष्ठ योगी अपने जीवनकाल में जीवन्मुक्त रहता है तथा अन्त में उसके प्राण मूर्धा से निकलते हैं, किन्तु सामान्य जन के प्राण अन्य मार्गों से निकलते हैं। मृत्यु के समय ब्रह्मनिष्ठ योगी अपने प्राणों का त्याग योग की उच्चावस्था में स्थित होकर करता है। उसे कैवल्यमुक्ति अथवा पूर्णमुक्ति प्राप्त होती है। यह सद्यःमुक्ति (तत्कालमुक्ति) होती है। ब्रह्मनिष्ठ योगी प्राणत्याग के पश्चात् ब्रह्म में विलीन हो जाता है।[२] उसकी प्राणशक्ति सुषुम्णा के द्वारा कपाल के मध्य में स्थित विवर (ब्रह्मरन्ध्र) से निकलती है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। किसी अन्य नाडी के द्वारा प्राणों के निकलने पर जीवात्मा विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है।

---

१. प्रश्न उप० (३.६, ७), छा० उप० (८.६.६) और बृह० उप० (४.२.३) में नाडियों की चर्चा है।

२. भगवद्गीता (८.२४, २५, २६, २७, २८) में मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की गति का वर्णन है।
कुण्डलिनी शक्ति तथा क्रम-मुक्ति एवं सद्यःमुक्ति (कैवल्यमुक्ति) की विशद व्याख्या 'गीता-रसामृत' में की गई है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

शब्दार्थ : अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानाम् हृदये सन्निविष्टः अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष, जो सबका अन्तरात्मा है, सदा मनुष्यों के हृदय में भली प्रकार प्रविष्ट (स्थित) है; **तम् मुञ्जात् इषीकाम् इव स्वात् शरीरात् धैर्येण प्रवृहेत्** = उसे मूँज से सींक की भाँति अपने शरीर से धैर्यसहित पृथक् करें (देखें); **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्** = विशुद्ध अमृत जानें; **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्** = विशुद्ध अमृत जानें; **इति** = उपसंहार हुआ।

वचनामृत : अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो सबका अन्तरात्मा है, सदा मनुष्यों के हृदय में भली प्रकार प्रविष्ट है। उसे मूँज से सींक की भाँति अपने शरीर से धैर्यसहित पृथक् करें। उसे विशुद्ध अमृत जानें, उसे विशुद्ध अमृत जानें।

सन्दर्भ : देह में स्थित चैतन्यतत्त्व को जानने का निर्देश है।

दिव्यामृत : एक ही चैतन्यसत्ता समस्त प्राणियों में संस्थित रहती है। वही बिम्बरूप से आत्मा और प्रतिबिम्बरूप से जीवात्मा है। हृदयक्षेत्र में संस्थित बुद्धि में आत्मा ही प्रतिबिम्बरूप में जीवात्मा कहलाता है। बुद्धि के सत्त्व, रज, तम गुणों से मुक्त होने पर जीवात्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध रूप में आत्मा ही होता है। बद्धरूप में जीवात्मा और मुक्तरूप में आत्मा अथवा प्रतिबिम्बरूप में जीवात्मा और बिम्बरूप में आत्मा वास्तव में मूलरूप में एक ही हैं। पुरुष जीवात्मा है और पुरुष ही आत्मा है। ज्ञानीजन प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा के विवेचन द्वारा बिम्बरूप आत्मा की ही प्रस्थापना करते हैं। मूलस्वरूप में दोनों एक ही हैं। जीवात्मा ब्रह्म ही है।[1]

मनुष्य के हृदयकमल अथवा हृदयक्षेत्र का आकार अङ्गुष्ठ के समान है। मनुष्य के हृदयक्षेत्र में विराजमान पुरुष अङ्गुष्ठमात्र है।[2] मनुष्य ही जीवात्मा को जान सकता है। अतः मनुष्य के हृदयक्षेत्र में स्थित जीवात्मा को अङ्गुष्ठ परिमाणवाला कहा जाता है।

---

१. **जीवो ब्रह्मैव नापरः**—जीवात्मा ब्रह्म ही है। ब्रह्मसूत्र में इस संबंध में अनेक सूत्र हैं। पञ्चदशी में भी इनका तात्त्विक अभेद कहा गया है।

२. **अङ्गुष्ठमात्र पुरुष**—कठ उप० (२.१.१२, २.१.१३, २.३.१७) तथा श्वेत० उप० (३.१३, ५.८)।

—अन्य प्राणियों में हृदय का आकार कहीं बड़ा तथा कहीं छोटा होता है।

परमात्मा सबका अन्तरात्मा है तथा सबके हृदय में विराजमान है। परब्रह्म परमात्मा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा जड देह का संचालक है। मृत्युकाल में चैतन्यतत्त्व के बहिर्गमन होने पर देह जड (चेतनाशून्य) हो जाता है। मनुष्य का मूलस्वरूप स्थूल देह नहीं है, बल्कि नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा है, जिससे पृथक् होने पर देह जड हो जाता है।

विशुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा अमृतस्वरूप है।[१] ज्ञानी पुरुष चैतन्य आत्मा को जड देह से पृथक् मानकर उसी पर मन और बुद्धि को एकाग्र कर देता है। जिस प्रकार मूँज में रहनेवाली सींक को मूँज से पृथक् कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष चैतन्यस्वरूप आत्मा को जड देह से भिन्न तत्त्व मानकर उसी पर चित्त को एकाग्र कर देता है तथा आनन्दमय हो जाता है।[२] चैतन्य आत्मा शुभ्र एवं तेजोमय है तथा अमृतस्वरूप है। तत्त्वज्ञान तथा ध्यान की उच्चावस्था में साधकजन शरीर, मन, बुद्धि से ऊपर उठकर इसका अनुभव कर लेते हैं।

अन्तिम वाक्य की पुनरावृत्ति करके उपनिषद् की समाप्ति तथा सिद्धान्त की निश्चितता की सूचना दी जाती है। इस मंत्र का अन्त होने पर कठोपनिषद् की पूर्ण समाप्ति की घोषणा की गई है।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥

शब्दार्थ : अथ = इसके पश्चात्; **नचिकेतः** = नचिकेता; **मृत्युप्रोक्ताम् एताम् विद्याम् च कृत्स्नम् योगविधिम् लब्ध्वा** = मृत्यु से प्रोक्त इस विद्या को और सम्पूर्ण योगविधि को प्राप्त करके; **विमृत्युः विरजः ब्रह्मप्राप्तः अभूत्** = मृत्यु से रहित, विकारों से मुक्त, ब्रह्म को प्राप्त हो गया; **अन्यः अपि यः (इदम्) अध्यात्मम् एवंवित्** = अन्य कोई भी (इस) अध्यात्मविद्या को इस प्रकार से जाननेवाला है; **एव** = ऐसा ही (हो जाता है)।

वचनामृत : इसके (सुनने के) पश्चात् नचिकेता यम द्वारा प्रोक्त इस विद्या

---

१. उपनिषदों में परमात्मा को अमृतस्वरूप कहा गया है। ब्रह्म (परमात्मा) का ज्ञान होने पर मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है, जैसे अग्नि में प्रक्षिप्त काष्ठ अग्नि हो जाता है।
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्डक उप०, ३.२.९)

२. **यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।**
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ (अष्टावक्रगीता, १.४)
—यदि तू ज्ञान द्वारा देह को पृथक् करके चैतन्य आत्मा में विश्राम करके स्थित हो तो अभी सुखी और शान्त तथा बन्धनमुक्त हो जायगा।

को और पूरी योगविधि को प्राप्त करके मृत्युरहित, विकारमुक्त, ब्रह्मप्राप्त हो गया। अन्य कोई भी इस अध्यात्मविद्या को इस प्रकार से जान लेता है, वह भी ऐसा ही हो जाता है।

सन्दर्भ : इस मंत्र में माहात्म्य-वर्णन है।

दिव्यामृत : यमराज मृत्यु के देवता हैं। स्वयं यमराज ने गुरुरूप में नचिकेता को ब्रह्मज्ञान का सत्पात्र मानकर ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। सत्पात्र को दी हुई विद्या फलीभूत होती है। मृत्युविजेता यमाचार्य ने नचिकेता को ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त ध्यान-प्रक्रिया का भी उपदेश दिया। ध्यानयोग ज्ञानयोग का पूरक होता है। शुभ्र ज्योतिःस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार ध्यान की उच्चावस्था में ही संभव होता है।

ज्ञान तथा ध्यान द्वारा विकारमुक्त एवं निर्मल होने पर नचिकेता ब्रह्म को प्राप्त हो गया। ब्रह्म को प्राप्त पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। नचिकेता ने मृत्यु और रोग का अतिक्रमण कर लिया।[1] ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है।[2] ब्रह्मज्ञान की अग्नि कर्मों को भस्मसात् कर देती है।[3]

ब्रह्मज्ञान का प्रभाव ऐसा है कि कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त करके अमृतस्वरूप हो जाता है। वह निश्चय ही अमृतस्वरूप हो जाता है।

कठोपनिषद् का दिव्यामृत यमाचार्य का कल्याणकारी प्रसाद है। इसका श्रद्धापूर्वक पारायण करनेवाला सौभाग्यशाली मनुष्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

१. **न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।** (श्वेत० उप०, २.१२)
—शरीर के योगाग्निमय होने पर मनुष्य रोग, वृद्धता और मृत्यु से परे चला जाता है।

२. **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** (मुण्डक उप०, ३.२.९)

३. **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गीता, ४.३७)

इन्हें भी पढ़िये

राष्ट्रीय एकता के प्रतीक : हमारे पर्व	रूपनारायण
भारतीय सह-अस्तित्व के प्रतीक : हमारे विभिन्न धर्म	,,
समणसुत्तं (हिन्दी)	जिनेन्द्र वर्णी
समणसुत्तं (अंग्रेजी)	,,
रूहुल कुर्आन (अरबी)	विनोबा
कुरान सार (मू० अरबी, नागरी लिपि)	,,
विज्ञान-युग में धर्म	,,
स्थितप्रज्ञ-दर्शन (संशोधित)	,,
गीता-सार (अष्टादशी)	,,
मनु-शासनम्	,,
गीताई चिन्तनिका	,,
महागुहा में प्रवेश	,,
ईशावास्य-वृत्ति	,,
अष्टादशी (उपनिषद्-अनुवाद)	,,
साम्य-सूत्र	,,
अध्यात्म-तत्त्व-सुधा	,,
राम-नाम : एक चिन्तन	,,
शुचिता से आत्मदर्शन	,,
नाम-माला	,,
पूजा-गीता : एक चिन्तन	,,
आत्मज्ञान और विज्ञान	,,
सप्त शक्तियाँ	,,
भक्ति-दीपिका	एस०वी० गोविंदन्
विवेक और साधना	केदार नाथ
भागवत-प्रवेश	नलिनी लायजावाला
ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्	सिद्धेश्वर प्रसाद

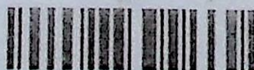


बड़ा सूची-पत्र मँगाइये

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन

राजघाट वाराणसी

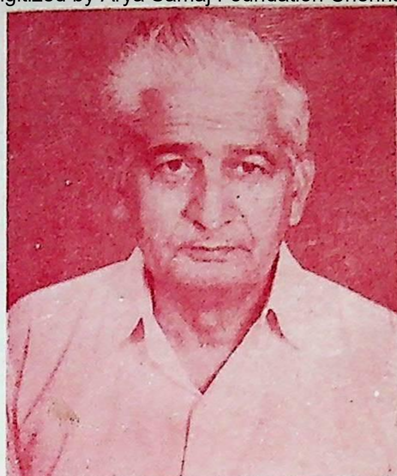




संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते॥

ऋग्वेद १०/१९१/२

हम सब साथ-साथ चलें, प्रेमपूर्वक बातचीत करें, हमारे मन शांत भाव से विचारों में लीन हों। जैसे प्रथम हमारे विद्वान पूर्वज अपने और भाग को आने वाली चरण-चिह्नों का पालन सहमति और समता के आदर्श का प्रकट के स्वरूप ग्रहण किया करते थे, और प्रभु [illegible] होकर अपना-अपना कार्य [illegible] करें।



लेखक : शिवानन्द (गीतामर्मज्ञ)

जन्म : १८ जुलाई, १९२६, मेरठ (उ० प्र०)

पता : गली गीता-रसामृत, विजयनगर, मेरठ (उ० प्र०)

लेखक की अन्य रचनाएँ

गीता-रसामृत	आनन्दमय जीवन (उमंगभरा जीवन)
जीवन और सुख	आनन्द की ओर
जीवन और अभय	ईशावास्य-दिव्यामृत
तनाव से मुक्ति और ध्यानदीप	मुण्डकोपनिषद्-दिव्यामृत
Inspirational Thoughts	ध्यान और जीवन (प्रेरणात्मक विचार)

अन्य सर्व-धर्म-समभाव-साहित्य

गीता-प्रवचन	(गीता)	विनोबा
कुरान-सार	(कुरान)	"
ख्रिस्त धर्म-सार	(बाइबिल)	"
जपुजी	(गुरुग्रंथ-साहिब)	"
धम्मपदं	(बौद्ध)	"
समणसुत्तं	(जैन)	जिनेन्द्र वर्णी
भागवत धर्म-सार	(भागवत)	विनोबा
मनुशासनम्	(मनु-स्मृति)	"

